ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

तैत्तिरीयोपनिषद्

महात्मा नारायण स्वामी

॥ ओ३म् ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

व्याख्याकारः—

स्व० महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

प्रकाशकः—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-२

छठी वार ५०००]   फरवरी १९८१   [मूल्य २)५० पैसे

प्रकाशक :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली-२

मूल्य दो रुपये पचास पैसे

मुद्रक :
सार्वदेशिक प्रेस,
पटौदी हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

प्रथम संस्करण की भूमिका

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के, जो दक्षिण में कृष्ण यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है, एक आरण्यक का नाम, तैत्तिरीय आरण्यक है, उस आरण्यक में १० प्रपाठक हैं जिनमें से प्रारम्भ के प्रपाठकों में कर्मकाण्ड का वर्णन है। आगे के ३ प्रपाठक तैत्तिरीयोपनिषद् कहलाते हैं। १० वां प्रपाठक महानारायणोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इस (तैत्तिरीय) उपनिषद् में ३ वल्ली हैं जिनके नाम प्रपाठकों के अंक सहित इस प्रकार हैं—

(१) शिक्षावल्ली	...	आरण्यक का	७ वां प्रपाठक
(२) ब्रह्मानन्दवल्ली	...	,,	८ वाँ ,,
(३) भृगुवल्ली	...	,,	९ वां ,,

पहली वल्ली में जिन शिक्षाओं का जिज्ञासु के लिये जानना आवश्यक है, उनका विवरण दिया गया है, दूसरी और तीसरी वल्ली उपनिषद् की शिक्षा का मुख्य अंग है और उनमें महत्त्वपूर्ण ब्रह्मविद्या सम्बन्धी शिक्षायें दी गई हैं। कुछ अन्य आवश्यक ज्ञातव्य बातों का भी उल्लेख जगह-जगह पर हुआ है, जिनके जानने से मनुष्य जीवन उच्च बन सकता है।

(२) इससे पूर्व ६ उपनिषद् की टीकायें जनता के सन्मुख रखीं। मुझे कृतज्ञता के भावों के साथ कहना चाहिये

कि उनका प्रेमी जनता ने मेरी आशा से अधिक मान किया है। अब यह सातवीं उपनिषद् की टीका विज्ञ पाठकों के भेंट है। इस बात का पूरा यत्न किया गया है कि प्रत्येक विषय आसानी के साथ पाठकों की समझ में आ जावे।

नारायण आश्रम,
रामगढ़, (नैनीताल)
श्रावण कृष्ण ५
सम्वत् १९९५ वि०

—नारायण स्वामी

॥ ओ३म् ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

प्रथमा वल्ली शिक्षाध्यायः

प्रथमोऽनुवाकः

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥१॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः। सत्यं वदिष्यामि पञ्च च।

इति प्रथमोऽनुवाकः।

अर्थ—मित्रः, नः, शम्) मित्र हमारे लिये कल्याणकारी हो, (वरुणः शम्) वरुण=श्रेष्ठ [ईश्वर] सुखदायी हो, (अर्यमा)

न्यायकारी [ईश्वर] (नः, शम्, भवतु) हमारे लिये सुखकारक हो, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) वेदवाणी का अधिपति [ईश्वर] (नः, शम्) हमारे लिये सुखकर हो, (उरुक्रमः) महा-पराक्रमी (विष्णुः) व्यापक [ईश्वर] (नः, शम्) हमारे लिये सुखदायक हो।

(नमो ब्रह्मणे) ब्रह्म को नमस्कार हो, (नमस्ते, वायो) हे सर्वाधार [ईश्वर] आपको नमस्कार हो, (त्वम् एव) आप ही (प्रत्यक्षं, ब्रह्म) प्रत्यक्ष ब्रह्म (असि) हैं, (त्वाम् एव) आप ही को (प्रत्यक्षं, ब्रह्म) प्रत्यक्ष ब्रह्म (वदिष्यामि) कहूंगा (ऋतं (वदिष्यामि) दिव्य सत्य कहूंगा (सत्यं, वदिष्यामि) सत्य कहूंगा (तन्, माम्, अवतु) वह [ब्रह्म] मेरी रक्षा करे (तत्, वक्तारम्, अवतु) वह, वक्ता=उपदेष्टा [आचार्य] की रक्षा करे, (अवतु माम्) रक्षा करे मेरी (अवतु, वक्तारम्) तथा रक्षा करे उपदेष्टा [आचार्य] की।

व्याख्या—उपनिषद् का यह प्रारम्भिक अनुवाक, मंगला-चरण के तौर पर प्रयुक्त हो गया है। इसमें ईश्वर को अनेक गुणवाचक नामों से सम्बोधित करते हुए विद्यार्थी अपनी तथा अपने गुरु की रक्षा की प्रार्थना करता है।

इस प्रकार के गुणवाचक नाम ईश्वर के वेदों में अनेक जगह आते हैं:—

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ॥अ०१३।४।३॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥ अ० १३।४।४॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ॥अ०१३।४।५॥

अर्थात् वह (ईश्वर) धाता है, विधर्ता है, वही वायु, वही उत्कृष्ट मेघ है ॥३॥ वही अर्य्यमा, वही वरुण, रुद्र और महादेव है ॥४॥ वही अग्नि, सूर्य और महायम है ॥५॥ इत्यादि

(२) शान्तिः शब्द के अर्थ हैं, भीतर समता और सुख का होना, तीन प्रकार के (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) दुःख हैं, जिनसे मनुष्य के हृदय में समता और सुख न रहकर उसकी जगह विषमता और दुःख आ जाया करता है, इसीलिये शान्तिः का तीन बार यहां पाठ किया गया तथा अन्य स्थानों पर भी किया जाता है।

(३) सत्यं वदिष्यामि पञ्च च। इस प्रकार के वाक्य उपनिषद्वाक्यों की रक्षार्थ और यह कि उनमें कोई न्यूनाधिक न कर सके, प्रयुक्त हुआ करते हैं। इस वाक्य में कहा गया है कि उपर्युक्त उपनिषद् में, 'सत्यं वदिष्यामि' के बाद पांच वाक्य और हैं। गिनती करने से यह बात ठीक मालूम हो जाती है।

इति प्रथमोऽनुवाकः।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

ओ३म् शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥१॥ शीक्षा पञ्च ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(शीक्षां व्याख्यास्यामः) अब शिक्षा की व्याख्या करेंगे (वर्णः) अकारादि अक्षर (स्वरः) उदात्त, अनुदात्तादि स्वर (मात्राः) ह्रस्वादि मात्रायें (बलम्) आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न (साम) मधुरता से शब्दों का उच्चारण सन्तानः) सन्धि-अक्षरों का मेल। (इति) इस प्रकार (शीक्षाध्यायः) शिक्षा-अध्याय (उक्तः) कहा गया ॥१॥ (शीक्षा पञ्च) शिक्षा और उसके बाद ५ वाक्य और इस उपनिषद्वाक्य में है ॥२॥

व्याख्या—उपनिषद् की शिक्षा समझने के लिये आवश्यक था कि जिज्ञासु को शब्द शिक्षा का भान हो, इसलिये यहां पहले शब्द शिक्षा के अंग वर्ण, स्वरादि का उल्लेख किया गया है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः

सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः पंचस्वधिकरणेषु । अधिलोकम-धिज्यौतिपमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते ॥३॥

अर्थ—(सह, नौ, यशः) साथ-साथ हम दोनों (गुरु और शिष्य) का यश हो (और) साथ-साथ हम दोनों का तेज हो। (अथ, अतः) अब इसके बाद (संहितायाः, उपनिषदं,

व्याख्यास्याम:) संहिता की उपनिषद् का व्याख्यान करेंगे। (पञ्चस्वधिकरणेषु) पांच अधिकरणों (मदों या भागों) में (वह उपनिषद् है)। (अधिलोकम्) लोक के सम्बन्ध में,(अधिज्यौतिषम्) ज्योतिष् (नक्षत्रों) के सम्बन्ध में, (अधिविद्यम्) विद्या के सम्वन्ध में, (अधिप्रजम्) सन्तान के सम्बन्ध में (अध्यात्मम्) शरीर के सम्वन्ध में। (ता:) इन (पांचों) को (महा संहिता:) महासंहिता (इति, आवक्षते) ऐसा कहते हैं।

व्याख्या—संहिता मिली या संयुक्त वस्तु को कहते हैं—यहां जिन पांच संयुक्त वस्तुओं के नाम लिखे गये हैं उन्हीं को संहिता कहा गया है। उपनिषद् के अर्थ हैं समीप बैठना। गुरु के समीप बैठने से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको यहां 'उपनिषद् कहा गया है। संहिता की उपनिषद् का भाव इसलिए यह हुआ कि पांच संयुक्त अवयवों (अधिलोक, आदि) का ज्ञान। इनकी व्याख्या आगे की गई है।

अथाधिलोकम्—पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः ॥१॥

वायुःसन्धानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। विद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम् ॥२॥

अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या सन्धिः । प्रवचनꣳसन्धानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा सन्धिः । प्रजननꣳसन्धानम् । इत्याधिप्रजम् ॥३॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् सन्धिः । जिह्वा सन्धानम् । इत्यध्यात्मम् । इतीमा महासꣳहिताः । य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद । सन्धीयते प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥४॥

सन्धिराचार्यः पूर्वरूपमित्यग्रजं लोकेन ।
सन्धिराचार्य्यः पूर्वरूपमित्यधिमन्त्रलोकेन ॥५॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(१) (अथ, अधिलोकम्) अब लोक के सम्बन्ध में [कहते हैं] (पृथिवी, पूर्वरूपम्) पृथिवी पूर्व रूप, (द्यौः, उत्तररूपम्) द्यौ उत्तर रूप, (आकाशः, सन्धिः) आकाश सन्धि [मेल] और (वायुः सन्धानम्) वायु सन्धान [मिलाने वाला] है । (इति अधि, लोकम्) यह लोक के सम्बन्ध में हुआ ।

(२) (अथ अधिज्यौतिषम्) अब नक्षत्रों के सम्बन्ध में [कहते हैं] (अग्निः पूर्वरूपम्) अग्नि पूर्वरूप, (आदित्यः ऊत्तररूपम्) सूर्य उत्तररूप, (आपः सन्धिः) जल सन्धि और

(वैद्युतः सन्धानम्) बिजली मेल कराने वाली है। (इत्यधिज्यौतिषम्) यह ज्योतिष के सम्बन्ध में हुआ।

(३) (अथ, अधिविद्यम्) अब विद्या के सम्बन्ध में कहते हैं। (आचार्यः पूर्वरूपम्) गुरु पूर्वरूप, (अन्तेवासी, उत्तररूपम्) शिष्य उत्तर रूप है। (विद्या सन्धिः) विद्या सन्धि है और (प्रवचनम्, सन्धानम्) प्रवचन = पढ़ाना मिलाने वाला है। (इति अधिविद्यम्) यह विद्या के सम्बन्ध में हुआ।

(४) (अथ अधिप्रजम्) अब सन्तान के सम्बन्ध में कहते हैं। (माता, पूर्वरूपम्) माता पूर्वरूप (पिता, उत्तररूपम्) पिता उत्तर रूप (प्रजा सन्धि,) सन्तान उसकी सन्धि [मेल] और (प्रजननम् सन्धानम्) उत्पादन कर्म उनका मेल कराने वाला है। (इत्यधिप्रजम्) यह सन्तान के सम्बन्ध में हुआ।

(५) (अथ अध्यात्मम्) अब शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं, (अधरा हनुः पूर्वरूपम्) मुख का निचला भाग ओष्ठ जबड़ा ठोड़ी आदि पूर्वरूप (उत्तरा हनुः उत्तररूपम्) ऊपर का जबड़ा आदि उत्तररूप, (वाक् सन्धिः) वाणी सन्धि, और (जिह्वा सन्धानम्) और जिह्वा मिलाने वाली है। (इति, अध्यात्मम्) यह शरीर के सम्बन्ध में हुआ।

(इति, इमा, महा संहिताः व्याख्याता वेद) जो इस प्रकार इन व्याख्यायित महासंहिताओं को जानता है, वह (प्रजया) सन्तान से (पशुभिः) पशुओं से, (ब्रह्मवर्चसेन) तेजस्विता से, (अन्नाद्येन) खाद्य पदार्थों से (सुवर्गेण लोकेन) और स्वर्ग लोक से (सन्धीयते) मिलता है अर्थात् इनको प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—आचार्य ने प्रारम्भ में वर्ण स्वरादि की शिक्षा देने के बाद, शिष्य को संहिता का ज्ञान देना चाहा—संहिता मेल को कहते हैं। जगत् स्वयं भी और उसमें उपस्थित सभी पदार्थ प्रकृति के अणुओं के मेल का परिणाम है। कहीं-कहीं जीव का भी सम्मेलन है इसलिये यह जगत् स्वयं संहिता रूप है। इस संहिता रूपी जगत का ज्ञान उसके पांच विभागों के जान लेने से हुआ करता है।

संख्या,	नाम विभाग,	पूर्वरूप	उत्तररूप,	सन्धि,	सन्धानम्
[१]	लोक	पृथ्वी	द्यौ	आकाश	वायु
[२]	ज्योतिष	अग्नि	सूर्य	जल	बिजली
[३]	विद्या	आचार्य	शिष्य	विद्या	प्रवचन
[४]	प्रजा	माता	पिता	सन्तान	प्रजनन
[५]	अध्यात्म	अधरा हनु	उत्तराहनु	वाक्	जिह्वा

आचार्य ने, कितना उत्तम शिक्षा देने का क्रम इन विभागों के द्वारा बतलाया है। सबसे पहले उसने जगत् का, समष्टि रूप से ज्ञान शिष्य को दिया, जिसका उल्लेख पहले विभाग में है।

(१) समष्टि रूप से जगत् दो विभागों में विभक्त है। एक ऐसे नक्षत्र हैं जो स्वयं प्रकाशमय नहीं हैं किन्तु अन्यों से प्रकाश ग्रहण किया करते हैं। ऐसे समस्त नक्षत्रों का एक नाम पृथ्वी है। दूसरे ऐसे हैं जो स्वयं प्रकाशक हैं, इन सबका एक समष्टि नाम द्यौ है। इन दोनों प्रकार के नक्षत्रों का ज्ञान होने

से जगत् का ज्ञान समष्टिरूप से हो जाया करता है। इन दोनों प्रकार के नक्षत्रों के मध्य में आकाश हुआ करता है और इस लिए वही इनके मेल का कारण होता है और इसलिए उसे सन्धि कहा गया है। इन नक्षत्रोंका ज्ञान रोशनी से हुआ करता है और रोशनी (प्रकाश) का मार्ग वायु है, इसलिए वायु को मेल कराने वाला कहा गया है।

(२) अब समष्टि रूप से जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के बाद असंख्य सूर्य मण्डलों में से अपने सूर्य मण्डल को ओर चलना चाहिए। इस मण्डल वाले विभाग का नाम ज्योतिष है। सूर्यादि समस्त प्रकाशक नक्षत्रों से सम्बन्धित विद्या का नाम ज्योतिष है। पञ्चभूतों में से प्रकाश देने वाले भूत का नाम अग्नि है। प्रकाश का आदि कारण होने से यहां उसे पूर्व रूप कहा गया है। उसी अग्नि के प्रकाश से सूर्य्य प्रकाशित है। इसलिए उसे उत्तररूप कहा गया है। प्रत्येक सूर्य मण्डल में सबसे अधिक मुख्यता सूर्य्य ही की हुआ करती है, इसलिए अपने सूर्य्य का प्रथम ज्ञान दे देना इस विभाग का मुख्योद्देश्य है। सूर्य के साथ ही उसके ग्रहों और उपग्रहों का ज्ञान भी

---

*यजुर्वेद पुरुष सूक्त में भी द्यौ (शिर) और पृथ्वी (पांव) के मेल का कारण अन्तरिक्ष रूपी उदर ही बतलाया गया है। आकाश शब्द अन्तरिक्ष (Space) और ईथर (Ether) दोनों के लिए दर्शनों में प्रयुक्त होता है। प्रकरण को देखकर उसके अर्थ अन्तरिक्ष या ईथर किया जाया करते हैं। अन्तरिक्ष दो शब्दों अन्तः× इक्ष से बना है जिसके अर्थ हैं मध्य में दिखाई देनेवाला।

गौण रीति से विद्यार्थी को हो जायाही करता है, इसलिए स्पष्ट शब्दों में उसका उल्लेख इस विभाग में नहीं किया गया। संसार में यह अनुभव सिद्ध बात है कि वस्तुओं का मेल जल से हुआ करता है। सूर्य का पिंड भी जल ही से पिंडित हुआ करता है। इसी जल से विद्युत् भी व्यक्त हुआ करती है। अवश्य अव्यक्त विद्युत् (अग्नि रूप मन का विकार) जल के व्यक्त होने का कारण होती है, इसीलिए उसको सन्धान कहा गया है।

(३) समष्टि रूप से जगत् और व्यष्टिरूप से सूर्य मडल का विवरण देने के बाद यह बतलाया गया है कि यह सभी ज्ञान विद्याध्ययन से प्राप्त हुआ करता है—इसलिए तीसरे विभाग का नाम 'अधिविद्यम्' रक्खा गया है। विद्या आचार्य द्वारा प्राप्त हुआ करती है, इसलिए इस विभाग में आचार्य को पूर्व-रूप और शिष्य को उत्तर रूप कहा गया है। इन गुरु-शिष्य के मेल का कारण विद्या है, इसलिए उसको सन्धि और विद्या देने के कार्य (प्रवचन) को संधान कहा गया है।

(४) विद्यार्थी को इन उपर्युक्त तीनों विभागोंका ज्ञान प्राप्त करने के बाद गृहस्थ के विचार और आचार जानने चाहिएं। और समावर्तन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट भी होना चाहिये यही आश्रम चौथे विभाग का विषय हैं। यह आश्रम मुख्य रीति से, पितृऋण से सन्तानोत्पत्ति द्वारा उऋण होने के लिये है, इसलिए इस विभाग में पूर्वरूप माता, उत्तर रूप पिता, सन्तान को सन्धि और प्रजनन क्रिया को सन्धान कहा गया है।

(१) इस प्रकार नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये, मनुष्य को अपने को जानने का यत्न करना चाहिए तभी वह उपनिषदों (आत्मतत्त्व) की शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो सकता है और तभी वह आगे के आश्रमों में जाने के योग्य भी बन सकता है, अपने जानने का जब मनुष्य प्रयत्न करता है तब उसे सबसे पहले अपने शरीर के अन्तः और बाह्य करणों के जानने की चेष्टा करनी पड़ती है। इसी ज्ञान प्राप्ति का नाम अध्यात्म विद्या है। अध्यात्म विद्या का केन्द्र शिर होता है क्योंकि वही समस्त ज्ञानेन्द्रियों का आश्रय स्थान है और वही अन्तःकरणों का केन्द्र भी है।❀ शिर के दो भाग करके एक को उपनिषद्कार ने अधरा हनु और दूसरे को उत्तराहनु कहा है। समस्त ज्ञान जो आत्मा से बाहर का है वह वाणी द्वारा ही प्राप्त हुआ करता है इसलिये यहां वाणी(वाक्) को सन्धि कहा गया है और जिह्वा को सन्धान, क्योंकि वाणी जिह्वा द्वारा ही व्यापार में आया करती है।

अनुवाकान्त में फलश्रुति कहते हुए उपनिषद में कहा गया है कि जो मनुष्य इन महान् संहिताओं को जानता और उनके अनुकूल आचरण करता है उसे सन्तान, पशु, तेजस्विता और

❀ मन और चित्त का स्थान यद्यपि वक्ष के निचले भाग के निकट और पेट के ऊपर है तथापि उनके गोलक जिनके द्वारा वे काम करते हैं, पहले और दूसरे मस्तिष्क (Cerebrum and Cerebellum) ही हैं—

अन्न प्राप्त होते हैं और अन्त में स्वर्गलोक की प्राप्ति भी होती है।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सं-बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूमिविश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। आहवन्ती वितन्वाना॥१॥ कुर्वाणाऽचीर-मात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा दमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥२॥ यशोजनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। निभगाऽहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथाऽऽपः प्रवतो यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः।

धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥३॥ वितन्वाना शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहैक ं च ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(यः) जो (छन्दसाम्) वेदों में (ऋषभः) श्रेष्ठ कहा गया है और जो (विश्वरूपः) प्रत्येक वस्तु में तद्रूप से (अवस्थित) और (छन्दोभ्यः, अमृतात्)वेदों और मोक्ष से भी (अधिसंबभूव) ऊपर प्रकट है, (सः इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् ईश्वर(माम्) मुझको (मेधया) मेधावी बुद्धि से (स्पृणोतु) बलवान् करे। (अमृतस्य) अमरता का (देवधारणः) विद्वानों के तुल्य धारण करने वाला (भूयासम्) होऊं। (मे शरीरम्, विचर्षणम्) मेरा शरीर बलवान् हो। (मे जिह्वा मधुमत्तमा) मेरी जीह्वा में मधुरता हो। (कर्णाभ्यां, भूरि, विश्रुवम्) कानों से बहुत सुनूं। (ब्रह्मणः) (हे इन्द्र) तू ज्ञान का (कोशः, असि) भण्डार है। (मेधया) मेधावी बुद्धि से (पिहितः) ढका हुआ है। (मे श्रुतम्, गोपाय) मेरे सुने हुए की रक्षा कर(तेरी कृपा, मेरी कीर्ति को) (आवहन्ती) धारण करती, (वितन्वाना) फैलाती ॥१॥ और (आत्मनः) अपने इष्ट की सिद्धि करती हुई (अचिरम्) शीघ्र (कुर्वाणा) मेरी रक्षा करे। (मम, वासांसि) मेरे (पास) वस्त्र (गावः, च) और गाय पशु (अन्न, पाने, च, सर्वदा) अन्न और पीने योग्य पदार्थ सदैव हों। (ततः) इसके बाद (श्रियम्) श्री=लक्ष्मी (मे, आवह) मुझे दे। (लोमशां) बालों वाले (भेड़-

बकरी आदि) (पशुभिः सह, स्वाहा) अन्य पशुओं के साथ मुझे प्राप्त हों। (मा) मेरे समीप (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (आ, यन्तु) आवें (मा) मुझको (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (वि, यन्तु) विशेष रीति से प्राप्त हो। (मा) मुझको (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (प्र, यन्तु) अच्छे प्रकार जाने (दमाः, ब्रह्मचारिणः) इन्द्रियों को वश में रखने वाले ब्रह्मचारी (यन्तु) प्राप्त हों। (शमाः, ब्रह्मचारिणः) अन्तःकरणों को शान्त रखने वाले ब्रह्मचारी (यन्तु) प्राप्त हों ॥२॥ (यशोजने) यशस्वी मनुष्यों में (असानि) होऊं। (वस्यसः) धनी पुरुषों में (श्रेयान्, असानि) श्रेष्ठ होऊं। (भग) हे भगवान् ! (तम् त्वा) उस तुझ में (प्रविशानि) प्रविष्ट होऊं [भग] हे ऐश्वर्यवान् ईश्वर ! (सः, मा, प्रविश) वह मुझमें प्रविष्ट हो। (सहस्रशाखे) हजारों जगत्‌रूप शाखायें हैं जिसमें (तस्मिन्, त्वयि) उस तुझ में (भग) हे ईश्वर ! (अहम्) मैं (नि, मृजे) (अपने को) शुद्ध करता हूं। (यथा) जैसे (आपः) जल (प्रवतः) निचाई की ओर (यन्ति) चलते और (यथा) जैसे (मासा) महीने (अहर्जरम्) वर्ष में जा मिलते हैं। (एवम्) इसी प्रकार (धातः) हे सब के धारण करने वाले ईश्वर ! (सर्वतः) सब ओर से (ब्रह्म-चारिणः) ब्रह्मचारी (माम्) मेरे पास (आ, यन्तु) आवें। हे ईश्वर आप ! (प्रति वेशः असि) विश्राम के स्थान हैं अर्थात् जहां जाने से सबको आराम मिलता है (मा) मुझको (प्र, भाहि) (जगत् में) चमकाइये और (मा) मुझको (प्र पद्यस्व) अपनी शरण में लेवें ॥३॥

नोट—"वितन्वाना", "शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा", "धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा"। ये तीन वाक्य प्रत्येक खण्ड के अन्त के शब्द हैं, उन्हें लिखकर कहा गया है कि इसके बाद एक वाक्य और है। यह और इस प्रकार के लेख जो उपनिषद् के प्रत्येक अनुवाक के अन्त में लिखे गये हैं केवल उपनिषद् वाक्य-संख्या की रक्षार्थ हैं।

व्याख्या—पंच महासंहिताओं का ज्ञान प्राप्त करने के बाद क्रियात्मक जीवन कैसा होना चाहिये और उसके लिये क्या क्या सामग्रियां अपेक्षित हैं ? इसका विवरण इस अनुवाक में दिया गया है।

(१) लोक और परलोक दोनों प्रकार की उन्नति प्राप्त करने का उद्देश्य, अमरता का जीवन प्राप्त करना हो सकता है, इसीलिये उसकी शिक्षा प्रारम्भ में ही दी गई।

(२) व्यक्तिगत जीवन को उच्च बनाने के लिये निम्न बातें इस अनुवाक में वर्णित हैं:—

मेधावी बुद्धि, शारीरिक बल, वाणी में मधुरता, बहुश्रुत होना और कीर्ति प्राप्त करना।

(३) गृहस्थ अथवा समाजगत जीवन को उत्तम बनाने की सामग्रियां ये हैं—

अच्छे वस्त्रों, पशुओं (गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि) प्रत्येक प्रकार के खाद्य अन्नों, सब तरह के पाने योग्य पदार्थों का होना तथा धन लक्ष्मी से भरपूर होना।

(४) ऐसे सद् गृहस्थ की सदैव इच्छा यह रहनी चाहिये कि उसे ब्रह्मचारी जानें और अच्छे, इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाले शील युक्त ब्रह्मचारी, उसके पास, भिक्षा प्राप्ति के लिये आवें और विशेष रीतिसे आयें तभी वह यशस्वी हो सकता है।

(५) उसके भीतर आस्तिक बुद्धि और ईश्वरपरायणता होनी चाहिये जिससे उसकी आत्मा की भी शुद्धि हो।

(६) उपर्युक्त व्यक्ति इस योग्य हुआ करता है कि वह जगत् में चमके, उसकी कीर्ति का विस्तार हो और वह प्रभु की शरण में आने का अधिकारी हो।

(७) इस अनुवाक में 'लोमशाम्'से प्रारम्भ होने वाले वाक्य से लेकर 'सर्वतः'शब्द के साथ समाप्त होने वाले वाक्य पर्यन्त, प्रत्येक वाक्य के अन्त में स्वाहा शब्द आया है। यह बड़े महत्व की बात है। स्वाहा शब्द के अर्थ स्वार्थ त्यागने के हैं। गृहस्थ विद्वान् चाहे धनसंग्रह करे, चाहे ब्रह्मचारियों को भिक्षा अथवा शिक्षा देवे,उसके ये समस्त काम,निष्काम होने चाहियें। स्वार्थ-परायणता का उनमें लेशमात्र भी दखल नहीं होना चाहिये, तभी वह सबके साथ न्याय का व्यवहार कर सकता है।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पंचमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते।

मह इति तद्ब्रह्म। स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ। लोकः ॥१॥ मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि ॥२॥ मह इति ब्रह्म ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥३॥ (असौ लोक यजूंषि वेद द्वे च) ॥६॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(भूः, भुवः, सुवः, इति, वै, तिस्रः, व्याहृतयः) भूः भुवः स्वः, ये तीन व्याहृतियां हैं। (तासाम्) उसमें (उ, ह, स्म) बीते हुए काल में (एताम्, मह, इति) इस "महः" (चतुर्थम्) चौथी व्याहृति को (माहाचम्स्यः) महाचमस नामक ऋषि को पुत्र महाचमस्य (प्रवेदयते) अच्छे प्रकार

जानता था। (तद्, ब्रह्म) वह (महः) ब्रह्म है (सः, आत्मा) वह आत्मा है। (अन्याः, देवताः) अन्य (सूर्य्यादि) देवता (अंगानि) (ब्रह्म के उत्पन्न किये हुए जगत् के) अंग हैं। (अयम्, लोकः, वै, भू इति) यह (पृथ्वी) लोक भूः है (अन्तरिक्षम्, भुव, इति) अन्तरिक्ष "भुवः" है (असौ लोकः सुवः, इति) वह (द्यौ) लोक 'स्वः' है ॥१॥ (आदित्यः, महः, इति) सूर्य्य "महः" है। (आदित्येन वाव) सूर्य ही से (सर्वे, लोकाः) समस्त लोक (महीयन्ते) बढ़ते हैं। (अग्निः, वै, भूः, इति) अग्नि भूः है। (वायुः, भुवः, इति) वायु 'भुवः' है, (आदित्यः, सुवः, इति) सूर्य 'स्वः' है। (चन्द्रमाः, महः, इति) चन्द्रमा 'महः' है। (चन्द्रमसा, वाव) चन्द्रमा ही से (सर्वाणि ज्योतींषि) समस्त ज्योतियें (महीयन्ते) महिमा (शीतलता) प्राप्त करती हैं। (ऋचः, वै, भूः, इति) ऋचायें 'भूः' हैं। (सामानि, भुवः, इति) साम 'भुवः' हैं। (यजूंषि, सुवः इति) यजु 'स्वः' हैं ॥२॥

(ब्रह्म, महः इति) ब्रह्म 'महः' है। (ब्रह्मणा, वाव, सर्वे,वेदा महीयन्ते)ब्रह्म ही से समस्त वेद महत्ता प्राप्त करते हैं। (प्राणः, वै, भूः, इति) प्राण 'भूः' हैं। (अपानः, भुवः, इति) अपान, 'भुवः' है। (व्यानः, सुवः इति) व्यान स्वः' है। अन्नम्, महः, इति) अन्न 'महः' है। (अन्नेन-वाव) अन्न ही से (सर्वे प्राणाः महीयन्ते) समस्त प्राण महिमा वाले हैं।(ताः वै, एताः,चतस्रः) वे ही ये चार (व्याहृतियां) (चतुर्धा) चार प्रकार की हैं।

(व्याहृतयः, चतस्रः चतस्रः) (अर्थात् एक-एक) व्याहृति चार-चार प्रकार की हैं। (यः, ताः, वेद) जो इन्हें जानता है (सः ब्रह्म वेद) वह ब्रह्म को जानता है। (अस्मै) इस (व्याहृतियों के ज्ञाता) को (सर्वे, देवाः) सब विद्वान् (बलिम्) बलि (भेंट) (आवहन्ति) लाते हैं ॥३॥ इस अनुवाक में, दो खण्डों के अन्तिम शब्द "असौ लोको" और "यजूंषि" हैं और तीसरे खण्ड में उस वाक्य के बाद, जिसके अन्त में "वेद" है। दो वाक्य और हैं।

व्याख्या—इस अनुवाक में व्याहृतियों की महत्ता प्रकट की गई है। वेद में एक जगह ईश्वर को "वाचि व्याहृतायाम्"❀ कहा गया है।

(१) इन प्रारम्भिक तीन व्याहृतियों के द्वारा ईश्वर का स्वरूप प्रकट किया गया है। "भूः सत्तायाम्" धातु से, भूः के अर्थ हैं, सत्, "भुव" अवचिन्तने धातु से, भुवः के अर्थ चित् के हैं। स्वः आनन्द को कहते हैं। इस प्रकार भूः भुवः स्वः के अर्थ सच्चिदानन्द हुए। यही ईश्वर का स्वरूप है। महः उस सच्चिदानन्द स्वरूप वाले ईश्वर की महत्ता का द्योतक है। माहाचमस्य नामक विद्वान् इस बात का ज्ञान रखता और प्रचार करता था।

(२) एकेश्वरवाद की उत्तम रीति से पुष्टि करने ही के लिये उपनिषद् के इस वाक्य में कहा गया है कि महः अर्थात् महान्-

---

❀ देखो यजुर्वेद ८।५।४

तम उपास्य तो ईश्वर ही है। अन्य सूर्य्यादि-देवता उस महान् ईश्वर के रचे जगत् के अंगोपांग ही हैं।

(३) अब व्याहृतियों की व्यापकता दिखलाते हुए प्रत्येक व्याहृति के चार-चार भेद प्रकट किये गये हैं:—

(१) भूः	=	पृथिवी, अग्नि, ऋचा, प्राण
(२) भुवः	=	अन्तरिक्ष, वायु, साम, अपान
(३) स्वः	=	द्युलोक, आदित्य, यजु, व्यान
(४) महः	=	आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म, अन्न

इन चारों वेदों के तीन विभाग किये जाते हैं। पहले विभाग में ईश्वर की व्यापकता समस्त भूतों और समस्त लोकों में दिखलाई गई है। इसके लिये व्याहृतियों के प्रथम दो भेद इस (पहले) विभाग के अंग हैं। दूसरे विभाग में ईश्वर की व्यापकता, ज्ञान रूप से प्रकट की गई है।

नोट- यहां एक बात याद रखनी चाहिए कि चारों वेदों में तीन ही प्रकार के मन्त्र होते हैं, जिनमें से पाद व्यवस्था वाले ऋक्, गायन किये जाने वाले साम और बाकी को यजुः कहा जाता है—इन तीन प्रकार के मन्त्रों के प्रकट कर देने से उनमें चारों वेदों का समावेश हो जाता है। इसके सिवा अथर्ववेद का नाम ब्रह्म वेद भी है इसलिये यदि कोई चाहे तो ब्रह्म शब्द के अथर्व वेद भी अर्थ कर सकता है।

तीसरे विभाग में ईश्वर की व्यापकता, प्राणियों के शरीरों में प्राण के रूप में दिखलाई गई है। भाव इन सबका यह है कि यह व्याहृति आख्यान, ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया गया है।

(४) एक बात और भी इन भेदों पर दृष्टि डालने से प्रकट होती है और वह यह है कि व्याहृति के चारों भेदों में महः को मुख्यता दी गई है। इसमें आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न का समावेश है। (१) आदित्य की विशेषता स्पष्ट है कि जगत् के सभी कार्य सूर्य के प्रकाश और गर्मी के द्वारा पूर्ण हुआ करते हैं। (२) चन्द्रमा आकार की दृष्टि से, यदि देखा जाये, तो उसका स्थान नक्षत्रों में सबसे छोटा है परन्तु छोटा होते हुए भी उसकी विशेषता उसके शीतलतामय प्रकाश में है। (३) ब्रह्म की महत्ता तो स्पष्ट ही है। (४) अन्य की महत्ता प्राणियों के लिये कितनी है यह किसी से भी छिपी हुई बात नहीं है। प्राण होने से मनुष्य प्राणी कहा जाता है परन्तु इस प्राण का कारण अन्न ही होता है।

(५) अन्तिम बात फल श्रुति है। जो मनुष्य इन व्याहृतियों को जानता और जानने से, जो लाभ उठाना चाहिये वह लाभ उठाता है तो वह न केवल ब्रह्मज्ञानी होता है बल्कि सांसारिक व्यक्तियों में प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता है और सभी लोग उसे भेंट और उपहार देकर सम्मानित किया करते हैं।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन

इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायो ॥१॥ सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥२॥ वायावमृतमेकञ्च ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(अन्तर्हृदये) हृदय में (यः) जो (एषः) यह (आकाशः) आकाश है (तस्मिन्) उसमें (सः, अयम्, पुरुषः) वह यह पुरुष (जीवात्मा) (मनोमयः) मनन शील, (हिरण्यमयः) ज्योतिर्मय (अमृतः) और अमर है। (तालुके, अन्तरेण) दोनों तालुओं के बीच (यः, एष) जो यह (स्तनः, इव) (मांस का टुकड़ा) स्तन के समान (अवलम्बते) लटकता है। (सा, इन्द्र-योनिः) वह जीवात्मा का स्थान है। (यत्र) जहां (केश, अन्तः) बालों की जड़ (विवर्तते) अलग-अलग होती हैं (वहां वह जीवात्मा) (शीर्षकपाले) शिर के कपालों को (व्यपोह्य) खोल कर (भूः, इति) भूः रूप (अग्नौ) अग्नि में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है। (भुव, इति, वायौ) भुवः रूप वायुः ॥१॥ (सुवः, इति, आदित्ये) स्वः रूप आदित्य और (महः, इति,

ब्रह्मणि) महः रूप ब्रह्म में होकर (स्वाराज्यम्, आप्नोति) स्वाराज्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है । (मनस्पतिम्, आप्नोति) मन का स्वामी हो जाता है, (वाक् पतिः, च) वाणी का स्वामी हो जाता है, (चक्षुः पतिः, श्रोत्रपतिः, विज्ञानपतिः) चक्षु, श्रोत्र और विज्ञान (बुद्धि) का भी स्वामी हो जाता है। (एतत्, ततः, भवति) (तब) यह (सच्चित-जीव) वह (सच्चिदानन्द) हो जाता है। (आकाश शरीरम्) आकाश (जिसका) शरीर है, (सत्यात्म) आत्मा (जिसका) सत्य है (प्राणारामम्) प्राण (रूप अपनी सत्ता) में जो रमण करता है (मनः आनन्दम्) आनन्द (ही जिसका) मन है (शान्ति समृद्धम्) शान्ति जिस की सम्पत्ति है (अमृतम्) और अमर है (प्राचीनयोग्य, इति ब्रह्म, उपास्व) हे प्राचीनयोग्य ! ऐसे ब्रह्म की तू उपासना कर ।।२।।

नोट—पहले खण्ड के अन्त में वायु है और दूसरे खण्ड में अमृतम् के बाद एक वाक्य और है।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

व्याख्या—व्याहृतियों की शिक्षा देने के बाद, इस अनुवाक में जीवात्मा के सम्बन्ध में कुछेक उपयोगी बातें बतलाई हैं:—

(१) सबसे पहली बात यह बतलाई गई है कि शरीर में जीवात्मा कहां रहता है ? उसका निवास स्थान हृदयाकाश बतलाते हुए उसे मनन शील (मनीषी), ज्योतिर्मय और अमर कहा गया है।

(२) जब-जब शरीर छोड़कर मुक्तावस्था प्राप्त करने के लिए यात्रा करता है, तब यह दोनों तालुओं के बीच स्तन के समान लटकते हुए मांस के टुकड़े में आ जाता है। सुषुम्णा नाड़ी जो शरीर के निचले भाग मूलाधार से प्रारम्भ होकर हृदय में होती हुई शिर तक चली गई है और शिर में उसका अन्तिम ऊपरी स्थान "ब्रह्म रन्ध्रचक्र" के नाम से प्रसिद्ध है और उसके लिए कहा जाता है कि मुक्त होकर जीव उसी मार्ग से निकला करता है।* उसका मार्ग उन्हीं उपयुक्त तालुओं के मध्य होकर है और वह लटकता हुआ मांस का टुकड़ा ठीक उसके मार्ग में है। जीव को मुक्ति में जाने के लिये ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचना है इसलिये उसे शरीर के अपने साधारण निवासस्थान हृदयाकाश को छोड़कर उपर्युक्त मांस के टुकड़े में आ जाना पड़ता है, इसलिए उसे "इन्द्रयोनि" जीव का स्थान कहा गया है।

(३) वह मुक्त जीव कपालों को खोलकर, जहां बालों का अन्त होता है और जो ब्रह्मरन्ध्र की जगह और सुषुम्णा का अन्तिम चक्र है, शरीर से निकल जाता है।

(४) शरीर से जीव निकलकर अग्नि, वायु, आदित्य में होता हुआ ब्रह्मलोक में पहुंचकर मुक्ति के आनन्द का उपयोग

---

*शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥
कठोपनिषद् ६।१६

करने लगता है ।* उसी मुक्तावस्था को जहां प्राप्तव्य स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा हो जाती है, यहां 'स्वाराज्य' कहा गया है । जीवनमुक्त को, जो शरीर छोड़कर अग्नि, वायु आदि में प्रवेश करना पड़ता है वे साधारण अग्नि,वायु आदि नहीं होते, किन्तु उसके लिये उनकी विशेषता यह होती है कि ये सब उस जीव के लिए ब्रह्मरूप ही होते हैं, क्योंकि अब उसका लक्ष्य केवल ब्रह्म होता है । अन्यों की तो कथा ही क्या, उसे अपनी भी सुधबुध नहीं रहती । "जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है" वाली कहावत उस पर ठीक रीति से चरितार्थ होती है । इसलिए यहां भूः रूप अग्नि, भुवः रूप वायु और स्वः रूप आदित्य कहा गया है ।

(५) इस प्रकार मुक्त होने पर जीव समस्त इन्द्रिय, मन और बुद्धि का मालिक हो जाता है और उसका अधिकार होता है कि यदि वह चाहे तो उनसे जिस प्रकार से भी चाहे काम लेवे ।+

(६) तब यह जीव ब्रह्म हो जाता है (एतत् ततो भवति)—इस वाक्य के अर्थ अनेक सज्जन खींच तान कर किया करते हैं कोई कहते हैं कि जीव ब्रह्मांश हो जाता है, कोई कहते हैं कि जीव ब्रह्म के सदृश हो जाता है इत्यादि । परन्तु उपनिषद् वाक्य स्पष्ट है कि "एतत्" (जीव) "तत्"(सच्चिदानन्द)

---

*देखो छान्दोग्योपनिषद् में पञ्चाग्निर्विद्यान्तर्गत देवयान का प्रकरण ।

+शृण्वन् श्रोत्रं भवति, इत्यादि (शतपथ ब्राह्मण कां० १४)

हो जाता है। इस वाक्य में जीव का, अपनी सत्ता नष्ट करके, ब्रह्म होने का भाव लेश मात्र भी नहीं है। जीव जब मुक्ति प्राप्त करके ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है, तब वह सच्चित् होते हुए भी सच्चिदानन्द हो जाता है। भवति (हो जाता है) क्रिया स्पष्ट कर रही है कि जीव पहले सच्चिदानन्द नहीं था, अब हुआ है, इसलिये उसे सादि सच्चिदानन्द ही कह सकते हैं, परन्तु ब्रह्म अनादि सच्चिदानन्द है। यह अन्तर सदैव बाकी रहता है। भक्ति और प्रेम की पराकाष्ठा यही है कि प्रेमी अपने प्रियतम के प्रेम में इतना लवलीन हो जावे कि उसे अपनी सुध-बुध बाकी न रहे। अभेद ज्ञान ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। इसी के लिये एक कवि ने कहा है:—लवलीन है प्रेम में तेरे ऐसे, सुख की न सुध हो दुख का न भान हो।"

(७) उसी श्रेष्ठ ब्रह्म के लिए कहा गया है कि उसका शरीर आकाश है अर्थात् वह असीम और सर्वव्यापक है, वह सत्यात्मा और सत्यस्वरूप है, प्राण रूपी अपनी सत्ता में निमग्न रहता है, आनन्द ही उसका मन है, शान्ति ही उसकी सम्पत्ति है। ऐसे ब्रह्म की उपासना का आदेश यद्यपि प्राचीन योग्य नामक शिष्य को आचार्य ने दिया है। परन्तु असल में प्राचीन योग्य के लक्ष्य से यह शिक्षा मनुष्य मात्र को दी गई है।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् पाङ्क्तं वा इद ँ सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त ँ स्पृणोतीति ॥१॥ सर्वमेकञ्च ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौः, दिशः, अवान्तरदिशः) (१) पृथिवी, (अप्रकाशक लोक) आकाश, द्यौ (प्रकाशक लोक) दिशायें और उपदिशायें (आग्नेयी आदि), (२) (अग्निः, वायुः, आदित्यः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि) अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्रमा और (अन्य) नक्षत्र, (३) (आपः, ओषधयः, वनस्पतयः, आकाशः, आत्मा) जल, औषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा (इति अधिभूतम्) ये (तीनों प्रकार का समूह पंचक) बाह्य भूतों से सम्बन्धित है । (अथ, अध्यात्मम्) अब शरीर के भीतरी पंचकों का वर्णन करते हैं—(४) प्राणः, व्यानः, अपानः, उदानः, समानः) । प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (प्राण पंचक) (५) चक्षुः, श्रोत्रम्, मनः, वाक्, त्वक्) आंख, कान,

मन, वाणी और त्वचा (इन्द्रिय पंचक) (६) (चर्म, मांसम्, स्नावा, अस्थि, मज्जा) चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और चर्बी, (धातु पंचक) (एतत् अधिविधाय) इन (उपर्युक्त पंचकों को) कहकर (ऋषिः, अवोचत्) ऋषि ने बतलाया कि (इदम्, सर्वम्, वै, पाङ्क्तम्) ये सब पांच संख्या वाले हैं (पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तम्, स्पृणोति इति) (एकाकार के पंचकों ही से मनुष्य) दूसरे पंचकों को बलवान् बना देता है। (सर्वम्) शब्द के बाद एक वाक्य और है।

व्याख्या—मनुष्य किस प्रकार ईश्वर की ओर चल सकता है और किस प्रकार लोक सेवा करते हुये अभ्युदय को प्राप्त हो सकता है।

(१) इसका एक मात्र जो उत्तर हो सकता है वही इस अनुवाक में दिया गया है। और वह उत्तर यह है कि भीतरी पंचकों से बाहरी पंचकों को और बाहरी पंचकों से भीतरी पंचकों को बलवान् बनाओ, बाहर और भीतर के प्रत्येक अंगों को, इस प्रकार पुष्ट बना लेने से, मनुष्यों के आत्मा, मन और शरीर सब बलवान् हो जाते हैं और इस प्रकार बलवान् बनकर पुरुषार्थमय जीवन व्यतीत करने से उनके लोक और परलोक दोनों सुधर जाया करते हैं।

(२) उपनिषद् के इस अनुवाक में बाहर के ३ और भीतर के भी ३ ही पंचकों का विवरण दिया गया है। आत्मा को छोड़कर बाहर के ३ पंचकों के अवशिष्ट भाग, मनुष्य के स्थूल शरीर

को बनाते और स्थिर रखते हैं। पंचभूतों से शरीर बनता और बाह्य शीतोष्ण तथा वायु, जल और औषधि आदि से स्थिर रहा करता है। इसलिए पहला कर्त्तव्य तो यह हुआ कि शरीर के बनाने और स्थिर रखने वाले पंचकों और शरीर के बीच में मेल (Harmony) रखने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरा कर्त्तव्य है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर आदि भीतरी पंचकों में भी मेल रखना चाहिये।

(३) बाह्य पंचकों में, तीसरे पंचकों के अन्त का अंग, आत्मा है। आत्मा का अर्थ विश्वात्मा है जो सारे ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण है,इस (विश्वात्मा)की बाह्य पंचकों में गणना इसलिये की है कि जिस प्रकार बाह्य स्थूल भूतों और शरीर में मेल रहना चाहिये इसी प्रकार विश्वात्मा (परमात्मा) और शरीर के अन्तर्गत होने वाले जीवात्मा में भी मेल होना चाहियें अर्थात् जीवात्मा को विश्वात्मा के अनुकूल होना चाहिये तभी आत्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति हुआ करती है।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः

ओमिति ब्रह्म। ओमितीद७ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्योश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओम् शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्य-

ध्वर्युः प्रतिगरं गृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह। ब्रह्मोपाप्नुवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति (ओं दश)॥८॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(ओ३म्, इति, ब्रह्म) ओ३म् यह ब्रह्म (महान्) है। (ओम्, इति, इदम्, सर्वम्) ओम् यह सब कुछ है। (ओम्, इति, एतत्, अनुकृति) ओम् यह अनुकरण करना अथवा आज्ञानुवर्ती होना है। (ह, स्म, वै) प्रसिद्ध है कि (ओम्) सम्बोधन वाचक है (विद्यार्थी), (अपि) कुछ (श्रावय, इति) सुनाओ ? (ऐसा कहने पर,) (ओम् स्वीकार वाचक होने से) ओम् कहकर वे (आश्रवायन्ति) सुनाते हैं। (ओम्, इति, सामानि, गायन्ति) ओम् कहकर ही साम गान करते हैं। (ओम्, शोम्, इति) ओं शम् (शम्+ओम्=शोमम्+शौम्) ऐसा उच्चारण करके (शस्त्राणि) ऋग्वेद के मन्त्रों को जो गायन नहीं किये जाते,(शंसन्ति) उच्चारण करते हैं। (ओम्+इति) ओम् कहकर (अध्वर्युः) यजुर्वेदी ऋत्विग् (प्रतिगरम्) यजुर्वेद के प्रोत्साहक मन्त्रों को (गृणाति) पढ़ता है। (ओम् इति) ओम् कहकर ही (ब्रह्मा, प्रस्तौति) ब्रह्मा ईश्वर स्तुति करता है। (ओम्, इति) ओम् कहकर ही (अग्निहोत्रम्) हवन करना (अनुजानाति) स्वीकार करता है, अथवा हवन करने की अनुज्ञा देता है। (ओम्, इति) ओम् कहकर

ही विद्वान् वेद का प्रवचन करने की इच्छा करता है जिससे (ब्रह्म, उपाप्नुवानि, इति, ब्रह्म को प्राप्त होऊं और वह (ब्रह्म, एव, उपाप्नोति) ब्रह्म को अवश्य प्राप्त कर लेता है।

("ओम्, दश" अर्थात् इस अनुवाक में १० वाक्य हैं)।

व्याख्या—मनुष्य जब इससे पूर्व अनुवाक में कहे अनुसार अपनी आत्मा और मन आदि को बलवान् बना लेता है तब उसमें उच्च कोटि की आस्तिक बुद्धि पैदा होती है और उसका प्रत्येक कार्य उसी बुद्धि से प्रभावित हुआ करता है। वह ईश्वर को महान् समझने लगता है और उसके प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि सबमें और सब कुछ उसे ओम्(ईश्वर)ही दिखलाई देने लगता है। जिस प्रकार एक लोहे के गोले को जब खूब तपा लेते हैं और वह लाल अंगारे के सदृश हो जाता है तब उस गोले को लोहा कहें तब भी ठीक है और यदि अग्नि कहें तब भी ठीक है क्योंकि जो वस्तु भी उसके सम्पर्क में आती है उसे वह जला दिया करता है। इसी प्रकार जगत् तो लोहे के गोले के सदृश है—ब्रह्माग्नि अपने सर्व व्यापकत्व से उसमें अग्निवत् व्यापक है—इस दिशा में यदि जगत् को प्रकृति कहें तो भी ठीक है यदि ब्रह्म कहें तब भी ठीक है। परन्तु जिस प्रकार लोहा और अग्नि उस गोले में पृथक्-पृथक् जाने और माने जाते हैं इसी प्रकार जगत्में भी प्रकृति और(ओम्=ईश्वर) पृथक्-पृथक् जाने और माने जाया करते हैं। न प्रकृति ईश्वर

हो जाती है,न ईश्वर प्रकृति। प्रेमी चूंकि ईश्वर के प्रेम में मग्न है और उसी में लवलीन हो रहा है इसलिये उसे प्रकृति नहीं अपितु ईश्वर ही ईश्वर सब जगह दिखाई देने लगता है। इसी-लिए यहां कहा गया है कि "यह सब कुछ ओम् ही है।"

(२) ओम् स्वीकारी के अर्थ में भी प्राचीन काल में प्रयुक्त हुआ करता था इसलिये जब किसी से कहा जाता था कि मन्त्र पाठ करो तो वह "ओ३म्"कहकर अर्थात् स्वीकार करके मन्त्र पाठ करने लगता है।

(३) प्रत्येक लोक और परलोक सम्बन्धी कार्य का प्रारम्भ आस्तिकता के प्रभाव से ओ३म् कहकर ही किया जाया करता था,यदि कोई साम गान करता था तो ओ३म् कहकर ही गाना शुरू करता था। ऋग्वेद और यजुर्वेद का मन्त्रोच्चारण भी ओ३म् कहकर ही किया जाता था। ब्रह्मायज्ञ में अपना कार्य भी ओ३म् ही से प्रारम्भ करता था—ओ३म् कहकर ही यज्ञ और प्रवचन किये जाते थे और ये सब ईश्वर प्राप्ति ही के लिये किये जाते थे और ऐसा करने वाले ईश्वर की प्राप्ति भी कर लिया करते थे।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः

ऋतञ्च स्वाध्याय प्रवचने च सत्यञ्च स्वाध्याय-प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वा-ध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च

स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥९॥ प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च षट् च ॥१०॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ और व्याख्या—ईश्वर के प्रेम को, हृदय में भरपूर रखने के लिये, स्वाध्याय और प्रवचन की आवश्यकता है। स्वाध्याय दो प्रकार का होता है:—(१)शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन और मनन करना।(२)आत्माध्ययन=आत्म निरीक्षण अर्थात् अपने कृत्यों पर दृष्टि रखते हुए जो बुरे हों उन्हें छोड़ने और जो भले हों उन्हें पुनः करने की दृढ़ इच्छा अपने भीतर उत्पन्न करते रहना। अध्यापन आदि के द्वारा वेद के प्रचार को प्रवचन कहते हैं। इस अनुवाक में शिक्षा यह दी गई है कि समस्त कार्य करते हुए भी स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् वेद के विचार और प्रचार को सदैव अपना लक्ष्य बनाये रखना

चाहिये। कुछ काय्यों का विवरण इस अनुवाक में दिया गया है:—

(१) ऋतम्=तीनों काल में एक जैसी रहने वाली वेदाज्ञा पर चलना।

(२) सत्यम्=मन, वाणी और कर्म में समता का होना।

(३) तप:=द्वन्द्वों का सहना और नियमित जीवन बनाना।

(४) दम:=इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखना।

(५) शम:=अन्त:करणों का शान्त रखना।

(६) अग्नय:=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ सम्बन्धी तीनों प्रकार की अग्नियों को स्थापित करना।

(७) अग्निहोत्रम्=प्रतिदिन हवन करना।

(८) अतिथय:=अतिथियों की सेवा करना।

(९) मानुषम्=मनुष्य ऋण चुकाना।

(१०) प्रजा=सन्तान का पालन और पोषण।

(११) प्रजन:=सन्तान पैदा करना।

(१२) प्रजाति=पौत्रादि का उत्पन्न होना।

(१) (सत्यम्, इति, सत्यवचा, राथीतर:) सत्य ही(श्रेष्ठतम है) ऐसा, सत्यवादी रथीतर का पुत्र राथीतर मानता था।

(२) (तप, इति, तपोनित्य:, पौरुशिष्टि:) तप ही(प्रधान है) ऐसा, नित्य तपस्वी पुरुशिष्ट का पुत्र पौरुशिष्टि (मानता था)।

(३) (स्वाध्याय प्रवचने, एव, इति, नाक: मौद्गल्य:) स्वाध्याय और प्रवचन ही (मुख्य हैं) ऐसा मुद्गल का पुत्र 'नाक'

शिक्षा देता था क्योंकि (तत्, हि, तपः) वह (स्वाध्याय) ही तप है (तत्, हि, तपः) वह (प्रवचन) ही तप है।

यहां यह नहीं समझना चाहिए कि इन उपर्युक्त विद्वानों में विचार भेद है क्योंकि इनमें जो जिस बात को मुख्य मानता था उसके सिवा अन्य बातों को गौण रीति से जरूर मानता था, इस प्रकार चारों सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचन को मानते थे, केवल मुख्यता और गौणता का भेद था।

("प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च" के बाद ६ वाक्य और हैं)

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अथ दशमोनुवाकः

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव । उर्ध्व-पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविण७ सुवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥१॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥ (अह७ षट्)

अर्थ—(अहम्, वृक्षस्य, रेरिवा) मैं (शरीर रूपी) वृक्ष का वाहक हूं, (कीर्तिः, गिरेः पृष्ठम्, इव) मेरी कीर्ति पहाड़ की चोटी की तरह (ऊंची अथवा फैली हुई) है। (ऊर्ध्व, पवित्रः, वाजिनि, इव, स्वमृतम्, अस्मि) ऊंची पवित्रता वाला, उद्योगी प्राणी की तरह उत्तम अमृत हूं। (सुवर्चसम्, द्रविणम्) तेजस्विता

वाला धन हूं। (सुमेधाः अक्षितः अमृतः) अच्छी बुद्धि वाला और न क्षीण होने वाला अमृत हूं। (इति, त्रिशंकोः, वेद अनुवचनम्) यह त्रिशंकु का वेदोपदेश है। (अहम् के बाद ६ वाक्य इस अनुवाक में हैं)।

व्याख्या—वेद की शिक्षानुसार मनुष्य को कैसा होना चाहिये ? यही उपदेश किसी महापुरुष त्रिशंकु ने किया है—वह कहता है कि मनुष्य को सबसे पहले यह विश्वास होना चाहिये कि मैं शरीर का स्वामी और वाहक हूं, शरीर को मेरे अधिकार में रहना चाहिए, साथ ही मुझे उत्तम और विस्तृत कीर्ति वाला, पवित्र पुरुषार्थी, न क्षीण होने वाले अमृत के तुल्य तेजस्विता पूर्ण सम्पत्ति रूप, और उत्तम बुद्धि युक्त होना चाहिये। अपनी ओर से जो शिक्षा देनी चाहिए थी उसके देने के बाद, उपनिषत्कार ने जिस प्रकार राथीतर आदि महापुरुषों की शिक्षाओं का उल्लेख किया है, उसी प्रकार त्रिशंकु के उपर्युक्त वेदोपदेश को भी उद्धृत किया है।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

———

अथ एकादशोऽनुवाकः

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न

प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥ देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥२॥ नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ताः । आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥ (स्वाध्याय प्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम् । तानि त्वयोपास्यानि । विचिकित्सा वा स्यात्तेषु वर्तेरन् । सप्त च) ।

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(आचार्यः,वेदम्, अनूच्य, अन्तेवासिनम्, अनुशास्ति)। आचार्य वेद पढ़ाकर, समीप रहने वाले (शिष्य) को उपदेश करता है। (सत्यं वद) सच बोलो।(धर्मं चर)धर्म का आचरण करो। (स्वाध्यायात्, मा प्रमदः) स्वाध्याय में प्रमाद न कर। (आचार्याय, प्रियम्, धनम्, आहृत्य) आचार्य के लिये, प्रिय धन को लाकर अर्थात् शिक्षा समाप्ति के बाद उचित दक्षिणा देकर (प्रजातन्तुं, मा व्यवच्छेत्सीः) प्रजा के सूत्र को मत तोड़ अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर। (सत्यात्, न प्रमदितव्यम्) सच बोलने में प्रमाद न कर। (धर्मात्, न प्रमदितव्यम्) धर्म में अर्थात् धर्माचरण करने में आलस्य न कर। (कुशलात्, न, प्रमदितव्यम्) कुशल (जो कुछ उपयोगी और कल्याणप्रद है उस) में प्रमाद न कर। (भूत्यै,न, प्रमदितव्यम्) ऐश्वर्य के बढ़ाने में प्रमाद न कर। (स्वाध्याय-प्रवचनाभ्याम्, न, प्रमदितव्यम्) पढ़ने और पढ़ाने में प्रमाद न कर ॥१॥ (देव पितृ कार्याभ्याम्, न, प्रमदितव्यम्) देव और पितृ सम्बन्धी कार्यों (यज्ञों) में प्रमाद न कर।

(मातृ देवो, भव) माता को देवी मानने वाला हो। (पितृ-देवो, भव) पिता को देव मानने वाला हो। (आचार्य देवो, भव) आचार्य को देव मानने वाला हो। (अतिथि देवो, भव) अतिथि को देव मानने वाला हो। (यानि, अनवद्यानि, कर्माणि) जो अनिन्दित कर्म है, (तानि, सेवितव्यानि) उनका

सेवन कर। नो, इतराणि) अन्यों का नहीं। यानि, अस्माकम्, सुचरितानि) जो हमारे अच्छे कर्म हैं,(तानि त्वया, उपास्यानि) उनका तुम्हें सेवन करना चाहिए ॥२॥ (नो, इतराणि) अन्यों का नहीं। (ये, के, च, अस्मत् श्रेयांसः, ब्राह्मणाः) और जो कोई हमसे श्रेष्ठ अन्य ब्राह्मण हैं (तेषाम्, त्वया, आसनेन, प्रश्वसितव्यम्) उनका तुमको आसन (आदि सुख सामग्री) से सत्कार करना चाहिए। श्रद्धया, देयम्) श्रद्धा से दान करना चाहिये ॥१॥ (अश्रद्धया,❀ देयम्) अश्रद्धा से दान करना चाहिये। (श्रिया, देयम्) प्रसन्नता से देना चाहिये। (ह्रिया, देयम्) लज्जा से देना चाहिए। (भिया, देयम्) भय से देना चाहिये। (सविदा, देयम्) प्रेमभाव से देना चाहिये। (अथ, यदि) और जो (ते) तुमको (कर्म विचिकित्सा) कर्म में सन्देह हो (वा, वृत्तविचिकित्सा, स्यात्) अथवा वृत्त (आचार व्यवहार) में सन्देह हो ॥३॥ (ये) जो (तत्र) वहां (युक्तः) धर्म करने में स्वयं प्रवृत्त या (आयुक्ताः) किसी प्रेरणा से धर्म कार्य्य करने वाले (अलूक्षाः) निर्दयता रहित (धर्मकामाः)

❀शंकराचार्य ने "अश्रद्धया देयम्" के अर्थ किये हैं कि अश्रद्धा से (अदेयम्) नहीं देना चाहिये, परन्तु विद्यारण्य स्वामी और राघवेन्द्र यति आदि ने 'अश्रद्धया+अदेयम्" नहीं अपितु "अश्रद्धया+देयम्" ही समझकर अश्रद्धा से भी देना चाहिये, ऐसे ही अर्थ किये हैं और यही ठीक मालूम होता है।

धर्मात्मा (संमर्शिनः) सम्यक् विचार करने में समर्थ (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (स्युः) हों (यथा, ते, तेषु, वर्तेरन्) जैसा वे वहां व्यवहार करते हों (तथा, तत्र, वर्तेथाः) वैसा ही वहां तुम भी व्यवहार करो। (अथ, अभ्याख्यातेषु) और जिस (विषय) में मतभेद हो तो (ये, तत्र, युक्ताः, आयुक्ताः, अलूक्षाः, धर्म कामाः, समर्शिनः, ब्राह्मणा, स्युः) जो वहां स्वयं प्रवृत्त अथवा प्रेरणा से प्रवृत्त, दयालु, धर्मात्मा और सम्यक् विचार-शील ब्राह्मण हों (यथा, ते, तेषु, वर्तेरन्) जैसा वे उन (मतभेद वाले विषयों) में वर्ते (तथा, तेषु, वर्तेथा) वैसा ही उनमें तुम भी वर्तो। (एषः, आदेशः) यह (वेद शास्त्र का) आदेश है। (एषः, उपदेशः) यही (हमारा) उपदेश है (एषा, वेदोपनिषत्) यही वेदोपनिषद् है (एतत्, अनुशासनम्) यही अनुशासन (शिक्षा) है। (एवम्, उपासितव्यम्) ऐसा ही आचरण करना चाहिये (एवम्, उ, च, एतत्, उपास्यम्) ठीक ऐसा ही अनुष्ठान करने योग्य है ॥४॥

(इस अनुवाक के तीन खण्डों के अन्तिम वाक्य ये हैं:—

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

तानि त्वयोपास्यानि ॥२॥

विचिकित्सा वा स्यात् ॥३॥

और चौथे खंड के 'तेषु वर्तेरन्' वाक्य के बाद ७ वाक्य और हैं।

व्याख्या—शिक्षा समाप्त होने पर, आचार्य्य ने ब्रह्मचारी शिष्य को, अन्तिम और कुछेक क्रियात्मक बातों की शिक्षा, इस अनुवाक में दी है, जिन पर आज भी प्रत्येक छात्र को ध्यान देने की जरूरत है:—

(१) सच बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय करने में कभी प्रमाद न करो।

(२) शिक्षा समाप्त करने पर, आचार्य को उचित दक्षिणा देनी चाहिये।

(३) ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तान पैदा करनी चाहिये।

(४) सत्याचरण, धर्म पूर्वक व्यवहार करने, जो कुछ उपयोगी और कल्याणप्रद है, उसके प्राप्त करने, ऐश्वर्य के बढ़ाने, पढ़ने-पढ़ाने और पितरों से सम्बन्धित कार्य करने में कभी प्रमाद न करना चाहिये।

(५) माता-पिता, आचार्य और अतिथि को सदैव देवों की कोटि का मानते रहना चाहिये।

(६) जो अनिन्दित (अच्छे) कर्म हैं, उन्हीं को करना चाहिये अन्य बुरे कर्मों को कभी नहीं करना चाहिये।

(७) गुरु के भी अच्छे ही आचरणों का अनुकरण करना चाहिये अन्यों का नहीं।

(८) जो कोई भी विद्वान् घर पर आवे तो उसका सदैव सत्कार करना चाहिये।

(९) श्रद्धा से, अश्रद्धा से, प्रसन्नता से, अन्यों की लज्जा से, भय से और प्रेम भाव से, जैसी भी सूरत हो प्रत्येक अवस्था में दान करना चाहिये।

(१०) कैसा कर्म करना चाहिये, किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये ? यदि इस मामले में कभी सन्देह उत्पन्न हो जावे तो जहां तुम रहते हो वहाँ अथवा उसके आस-पास जो धर्माचरण करने वाले विद्वान् हैं, चाहे वे किसी राजा या समाज के द्वारा नियुक्त किये गये हैं अथवा स्वयं प्रवृत्त हैं और क्रूरता से शून्य और धार्मिकता से युक्त हैं, और जो सम्यक् विचार करने में समर्थ हों, सन्दिग्ध विषय में जैसा वे आचरण करते हों, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये।

(११) यदि किसी विषय में मतभेद हो कि एक काम एक प्रकार से करना चाहिये या दूसरे प्रकार से अथवा यह करना चाहिये या वह ? तो भी जो समीपवर्ती स्वयं प्रवृत्त अथवा अन्यों से प्रेरित होकर प्रवृत्त, दयालु, धर्मात्मा और सम्यक् विचार करने में समर्थ विद्वान् हों, जैसा वे करते हों वैसा ही तुमको भी करना चाहिये।

उपर्युक्त ग्यारह प्रकार की शिक्षा देने के बाद आचार्य ने बतलाया है कि सभी शिक्षाएं वेदानुकूल और कर्त्तव्य हैं इसी लिये इन्हें वेदोपनिषद् भी कहा गया है और इसी के अनुकूल आचरण करने का स्वयं भी उपदेश दिया है।

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

अथ द्वादशोऽनुवाकः

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्नो इन्द्रो बृहस्पतिः । शन्नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ [सत्यमवादिषम् पञ्च च]

अर्थ—(मित्रः, नः, शम्) मित्र हमारे लिये कल्याणकारी हो, (वरुणः, शम्) श्रेष्ठ [ईश्वर] सुखदायी हो, (अर्यमा) न्यायकारी ईश्वर (नः, शम्, भवतु) हमारे लिए सुखकारक हो। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) वेदवाणी का स्वामी [ईश्वर] (नः, शम्) हमारे लिये सुखकर हो। (उरुक्रमः) महापराक्रमी (विष्णुः) व्यापक [ईश्वर] (नः शम्) हमारे लिये सुखदायक हो। (२) (नमो ब्रह्मणे) ब्रह्म को नमस्कार हो। (नमस्ते, वायो) हे सर्वाधार [ईश्वर] आपको नमस्कार हो। (त्वम्, एव) आप ही (प्रत्यक्षं, ब्रह्म) प्रत्यक्ष ब्रह्म, (असि) हैं। (त्वम्, एव) आप ही को मैंने (प्रत्यक्षं, ब्रह्म, अवादिषम्) प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा (ऋतम्, अवादिषम्) दिव्य सत्य कहा। (सत्यम्, अवादिषम) सत्य कहा (तत्, माम्, आवीत्) उसने मेरी रक्षा की, (तत्, वक्तारम्,

आवीत्) उसने वक्ता [आचार्य] की रक्षा की, (आवीत्, माम्) रक्षा की मेरी (आवीत्, वक्तारम्) रक्षा की उपदेष्टा की।

व्याख्या—उपर्युक्त मंगलाचरण के वे ही वाक्य हैं जिनसे इस वल्ली अथवा उपनिषद् का प्रारम्भ हुआ था। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे वाक्य में यहां भविष्यत् की जगह भूत कालिक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में था कि तुझको प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। यहां यह है कि तुझको प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा, इत्यादि। (इस अनुवाक में "सत्यम् अवादिषम्" के बाद पांच वाक्य और हैं।)

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

(१) शन्नः शिक्षां सह नौ, यश्छन्दसां भूः, स यः, पृथिव्योमित्यृतञ्चाहं, वेदमनूच्य शन्नो द्वादश ॥१२॥

(२) शन्नो, मह इत्यादित्यो, नो इतराणि, त्रयोविंशतिः ॥१३॥

(१) इस वल्ली में १२ अनुवाक हैं। वल्ली के अन्त में प्रत्येक अनुवाक के प्रारम्भ के शब्द "शन्नः" आदि ग्रन्थ की रक्षार्थ लिख दिये हैं।

(२) अनुवाकों के अन्दर जो अंक पड़े हैं, वे असल में विषय के प्रारम्भ आदि की दृष्टि से नहीं किन्तु जहां १० वाक्य पूरे होते हैं वहीं अंक डाले गये हैं। इस प्रकार "शन्नो" प्रारम्भ से लेकर यह "इत्यादि' से पहले वाक्य तक दस दहाई (१०० वाक्य) पूरी हो गई हैं, उसके 'मह' इत्यादि से लेकर "नो इतराणि" से

पहले वाक्य तक दस दहाई (१०० वाक्य)और पूरी हो गई हैं। उसके बाद "नो इतराणि" से लेकर वल्ली समाप्ति तक ३ दहाई और हुई, इस प्रकार पूरी वल्ली में कुल २३ दहाई हैं। यही अभिप्राय दूसरे शब्द संग्रह का है। वल्ली समाप्ति पर ग्रन्थ-रक्षार्थ, ये दो शब्दसंग्रह दिये गये हैं।

इति शिक्षाध्यायः प्रथमा वल्ली।

अथ ब्रह्मानन्द वल्ली

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अर्थ—(नौ, सह, अवतु) [ईश्वर] हम दोनों [गुरु और शिष्य] की साथ-साथ रक्षा करें। (नौ, सह, भुनक्तु) हम दोनों को साथ-साथ पालें [भोगने का अवसर दें]। (वीर्यम्, सह, करवावहै) हम दोनों को साथ-साथ बल देवें। (नौ, अधीतम्, तेजस्वि, अस्तु) हम दोनों का पढ़ना-पढ़ाना तेजयुक्त हो। (मा, विद्विषावहै) हम दोनों आपस में [कभी] द्वेष न करें। तीनों प्रकार के दुःख हमारे लिये शान्त रहें।

व्याख्या—उपर्युक्त वाक्य, इस वल्ली का मंगलाचरण है। शिक्षा समाप्ति के लिये आवश्यक है कि गुरु और शिष्य में मेल

और सहानुभूति रहे। इसी उद्देश्य से यह प्रार्थना की गई है। यदि गुरु और शिष्य दोनों की रक्षा,भोग, बल,वृद्धि और तेजस्विता प्राप्ति के साधन,दोनों के लिए, साथ-साथ काम में आते रहें और वे दोनों परस्पर ईर्ष्या द्वेष न करने का निश्चय किये रक्खें, तो निश्चित रीति से उनके मध्य सद्भावना बनी रह सकती है।

अथ प्रथमोऽनुवाकः

ओ३म् । ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चितेति । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(ब्रह्मवित्, परम्, आप्नोति) ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। (तत्, एषा, अभि-उक्ता) इस विषय में यह

(ऋचा) कही गई हैः—(सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्, ब्रह्म) सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त ब्रह्म है । (यः) जो [उसको] (परमे, व्योमन्) अत्यन्त सूक्ष्म (गुहायाम्) हृदयाकाश में(निहितम्,वेद) निहित (स्थित वा छिपा हुआ) जानता है, (सः, सर्वान् कामान्) वह समस्त कामनाओं को (सह, विपश्चिता, ब्रह्मणा, अश्नुते, इति) सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ [मिल कर] प्राप्त कर लेता है । (वै, तस्मात्, एतस्मात्, आत्मनः, आकाशः सम्भूतः) निश्चय उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ । (आकाशात्, वायुः) आकाश से वायु । (वायोः, अग्निः) वायु से अग्नि । (अग्नेः, आपः) अग्नि से जल । (अद्भ्यः, पृथिवी) जल से पृथिवी । (पृथिव्याः, ओषधयः) पृथिवी से औषधि । (ओषधीभ्यः, अन्नम्) औषधि से अन्न । अन्नात्, रेतः) अन्न से वीर्य । (रेतसः, पुरुषः) वीर्य से पुरुष । (सः वै, एषः, पुरुषः, अन्नरसमयः) सो निश्चय यह पुरुष अन्नरसमय है । (तस्य, इदम्, एव, शिरः) उसका यही शिर है । (अयं, दक्षिणः पक्षः) यह [शरीर का] दाहना अंग है । (अयं, उत्तरः, पक्षः) यह बायां अंग है । (अयं आत्मा) यह धड़ है । (इदम्, पुच्छम्, प्रतिष्ठा) यह पूंछ निकलने का स्थान आधार (आश्रय स्थान) है । (तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति) इस विषय में यह श्लोक भी है ।

व्याख्या—इस अनुवाक में दो बातें कही गई हैं और अन्त में पंच कोशों का विवरण देना आरम्भ किया गया हैः—

(१) ब्रह्मवित्, अन्तर्मुख होकर हृदयाकाश को ब्रह्म की प्राप्ति का स्थान जानकर, उसे [ब्रह्म को] उसी स्थान में,प्राप्त कर लेता है, और उसे प्राप्त करके अपनी समस्त कामनाओं की सिद्धि भी कर लेता है।

(२)उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति केलिये श्रद्धा अपेक्षित है और वह,ईश्वर की ब्रह्मांडरूपी महा रचना पर दृष्टिगत करने और उसे समझ लेने से प्राप्त हुआ करती है इसलिये उचित रीति से यहां सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत किया गया है। पहली बात तो स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म को प्राप्त कर लिया करेता है और यह भी कि ब्रह्म के प्राप्त कर लेने से उसकी कोई कामना असिद्ध नहीं रहा करती है। दूसरी बात यह कि जगत् की रचना पर विचार करने से श्रद्धा उत्पन्न हो जाया करती है, यह बात कुछ संक्षिप्त-सी व्याख्या की अपेक्षा रखती है। वैदिक धर्मानुसार सृष्टि की रचना का प्रकार,इसी प्रकार है जैसा कि इस अनुवाक में संकेत किया गया है:—

सृष्टि की रचना का स्थूल ढांचा

दिन रात की तरह,सृष्टि और प्रलय का चक्र, प्रवाह से नित्य है,यह सृष्टि अचानक नहीं पैदा हो गई है किन्तु असंख्य सृष्टियों की माला का एक दाना है। प्रलय में प्रकृति अपने असली रूप में जिसे सांख्य के शब्दों में सत्, रज और तम की साम्यावस्था कहते हैं,रहा करती है। उस समय प्रकृति में,गति

शून्यता (Inertia) जो उसकी प्रकृति है, रहा करती है। प्रलय का यह तारतम्य टूटे और जगत् बनना शुरू हो, इसके लिये गति की जरूरत हुआ करती है। वह गति ईश्वर से प्राप्त हुआ करती है। परन्तु ईश्वर के लिए कहा जाता है कि उसका ज्ञान बल और क्रिया सब स्वाभाविक हैं, फिर वह गति किस प्रकार हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि गति देना भी, उस (ईश्वर) की एक स्वाभाविक क्रिया है, जो प्रत्येक जगत् की उत्पत्ति के समय स्वभावतः प्रकट हो जाया करती है जिसका विवरण इस प्रकार है:-प्रलय की समाप्ति पर एक स्वाभाविक इच्छा जगत्कर्ता ईश्वर में प्रादुभूत होती है कि "प्रलय समाप्त हुई जगत् बनना चाहिए।" यह इच्छा मनुष्यों की भांति अप्राप्त वस्तु की इच्छा न समझी जावे, इसलिए उपनिषद् ने, इस इच्छा का नाम 'ईक्षण' तप का 'तपना' आदि रक्खा है। इस स्वाभाविक इच्छा से सदैव की भांति, एक स्वाभाविकी गति उत्पन्न हो जाती है। गति से पहले इच्छा होनी चाहिए (will preceeds motion) इस नियम के अनुसार इच्छा से उत्पन्न गति, प्रकृति की गति-शून्यता को भंग करके उसमें गति का संचार करती है। सांख्य के शब्दों में इसी का नाम, सत्व, रज और तम की साम्यावस्था का विषमावस्था में परिवर्तित हो जाना है। इस ईश्वरप्रदत्त गति से, कारणावस्था में वर्तमान प्रकृति, कारणसे कार्य बनने के लिये अथवा सूक्ष्म से स्थूल होनेकी ओर प्रवृत्त होती है। वैशेषिक

की मर्यादानुसार इसका नाम अव्यक्त परमाणुओं का व्यक्त होने की ओर प्रवृत्त होना है। इस प्रकार कारण को कार्य बनने की अवस्था प्राप्त करने के लिये बहुत काल की अपेक्षा होती है। उस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर, प्रकृति सूक्ष्म से सूक्ष्म रहने पर भी इस योग्य हो जाती है कि कार्यावस्था में, उसका नाम रखा जा सके। यह कार्यावस्था इस योग्य नहीं होती कि किसी प्रकार से भी उसे स्थूल जगत् में प्रत्यक्ष किया जा सके। इस सूक्ष्म कार्यावस्था प्राप्त प्रकृति के, जिसे अब विकृति कहना अधिक उचित है, नाम और काम इस प्रकार हैं:—

(१) महत्तत्व—सूक्ष्म भूतों में, यह सबसे अधिक सूक्ष्म है। मनुष्य के सूक्ष्म शरीर निर्माणार्थ, इस भूत का जो अंश उसके शरीर में जाता है, उसे बुद्धि कहते हैं।

(२) अहंकार—मनुष्य में, इस भूत के, अपेक्षित अंश के जाने से, ममता (मेरे और तेरे का भाव) पैदा हुआ करती है। इस भूत के उत्पन्न होने से पहले, समस्त विकृति समष्टि रूपमें रहा करती है। इस भूतके उत्पन्न होने के बाद ही से उनमें व्यष्टित्व (व्यक्तित्व—*Individuality*) में परिवर्तित होने की योग्यता आ जाती है।

(३) पञ्चतन्मात्रा—इन तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) के उत्पन्न होने से, स्थूल भूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) के निकटतम कारण (immediate cause) की उत्पत्ति हो जाती है। मनुष्य शरीर में इनके समावेश से सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की पूर्ति होती है।

(८ से १८) दशेन्द्रिय और मन—इन ग्यारहों वस्तुओं (भूतों) के जो अंश शरीर में आ जाते हैं, उनको १० इन्द्रिय और मन कहते हैं।

नोटः—अहंकार को छोड़कर अन्य १७ सूक्ष्म भूतों के समुदाय का नाम सूक्ष्म शरीर हुआ करता है। विकृत रूप में परिवर्तित प्रकृति में भेदभाव आ जाने और प्राणी में उसके परिणामरूप ममता के पैदा हो जाने से अहंकार का कार्य पूरा हुआ समझा जाता है इसीलिये उसकी गणना सूक्ष्म शरीर के अवयवों में नहीं की जाती है।

यहां तक सूक्ष्मभूतों के उत्पन्न हो जाने से, प्रकृति की समस्त संभव आकाश (Space) में फैली हुई स्थिति में, दरजे (Degree) का भेद तो अवश्य हो जाता है परन्तु श्रेणी (Kind) का भेद नहीं होता और स्थिति वही बनी रहती है जिसके लिये वेद ने कहा है:—"तम आसीत्तमसा गूढमग्रे"·· (ऋग्वेद १०।१२९।७) अर्थात् सब जगह अन्धकार ही अन्धकार रहता है और प्रत्येक सम्भव आकाश (Space) प्रकृति के "अन्धकारमय स्वरूप" से आच्छादित रहता है और कोई भी जगह, नाम मात्र को भी खाली नहीं रहती। प्रकृति के सूक्ष्म अवयवों में, उपर्युक्त भेद, उसी ईश्वरप्रदत्त गति से, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, हो जाता है। अब स्थूल भूतों की बात कही जाती है। जिसका वर्णन उपनिषद् के इस अनुवाक में हुआ है। उपर्युक्त परिवर्तन विकृति रूपमें परिवर्तित प्रकृति के अवयवों के भीतर ही भीतर

उसी गति से होकर, उन अवयवों में यह योग्यता पैदा हो जाती है कि वह स्थूल भूतों को जन्म दे सकें। वही ईश्वरप्रदत्त गति अब इन प्रकृति के अवयवों (परमाणुओं) पर काम करती है और उन्हें धक्का देकर अपनी जगह छोड़ने के लिये बाधित करती है। उन (अवयवों) तथा अन्यों के मध्य जिन पर भी उस गति ने काम किया है, कोई खाली जगह नहीं होती इस लिये वे सभी अवयव, अपने सामने वाले अवयवों को धक्का देने लगते हैं। जगह खाली न होने से, वे धक्का खाये हुये अवयव अपने सामने के अवयवों को, बराबर धक्का देना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार एक विश्वव्यापक हलचल, उस अवयव-समूह में पैदा हो जाती है। फल इसका यह होताहै कि जो-जो अवयव, इस संघर्षण से अपनी जगह छोड़ता जाता है उससे वहां वहां आकाश की उत्पत्ति होती जाती है। खाली जगह (Space) को आकाश (Ether) कभी खाली नहीं रहने देता इसलिये वे सभी स्पेश (अवकाश) ईथर (आकाश) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार पंचभूतों में से प्रथम भूत आकाश उत्पन्न हो जाया करता है।

(२) जहां आकाश हो और वायु के परमाणु भी, वहां उस आकाश को वायु के अणुरूप में हुए परमाणु आकर घेर लेते हैं। इस प्रकार वायु के अणुओं के एकत्र हो जाने और मिल जाने से वायु उत्पन्न हो जाया करता है।

(३) सूक्ष्मभूतों के रूप में परिवर्तित हुई विकृति के अवयव,

उपर्युक्त गति से धक्के खाकर आलमगीर हलचल पैदा करके गोलाकार रेखाओं में घूमने लगते हैं। अब वायु के उत्पन्न हो जाने से उनकी गति और वेगवती हो उठती है। उस वेगवती गति ने उन अवयवों में संघर्षण पैदा किया और इस संघर्षण (रगड़) से अग्नि पैदा हो जाया करती है।

नोट—यहां एक बात याद रखनी चाहिए कि असंख्य गोलाकार रेखाओं में घूमने वाले सूक्ष्म भूतों के अवयव, जहां वायु के उत्पन्न होने से वेगवतीगतिमय हो उठे थे, वे ही अब अग्नि के उत्पन्न हो जाने से, अग्निमय होकर चमकने लगते हैं। इन चमकने वाले गतिमय समूहों का नाम ही वैदिक साहित्य में "विराट्" कहा जाता है और इन्हीं चमकदार कणों को अंग्रेजी में नेबुला, (Nabula) कहते हैं। लापलास आदि योरुप के विद्वानों की आविष्कृत नैबूला थियोरी (Nabula Theory) यहीं से शुरु होती है। इससे पहले का इनको उस समय कुछ ज्ञान नहीं था।

(४) वायु और अग्नि के उत्पन्न हो जाने से, जल के निर्माता अवयव औक्सीजन और हाइड्रोजन (Oxygen and Hydrogen) अणु के रूप में व्यक्त होकर मिलते हैं और जल की वायवीय रूप में, (जैसे बादल, कुहरा, आदि) उत्पन्न कर देते हैं।

(५) जल के उत्पन्न हो जाने से उसके वायवीय कण अन्य कणों से मिलते और उनमें नमी पैदा करते हैं जिससे अनेक अणु मिलकर ठोस होकर पृथिवी को पैदा कर देते हैं।

(६) पृथिवी के उत्पन्न हो जाने से ओषधि, ओषधि से अन्न और उससे वीर्य (जिसमें रज शामिल समझना चाहिए) और वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति हुआ करती है। इस समस्त क्रम पर विचार करने से गतिदाता ईश्वर की प्रदत्त गति की विलक्षणता और अपूर्वता प्रकट हो जाती है। यह सारे जगत् का जो खेल बन जाता है यह सब उसी गति की करामात है। इसलिये वेद में कहा गया है कि वह "(ईश्वर) गति देता है।"* अरस्तू ने भी उसे गति में न आने वाला, गतिदाता कहा है।"×

उर्दू के कवि ने भी, इस गति के सम्बन्ध में लिखा है।

एक सौते+सरमदी है जिसका इतना जोश है।
वरना हर जर्रा अजल से ता अवद खामोश है॥

अर्थात् प्रकृति का प्रत्येक कण प्रारम्भ से लेकर अन्त तक चुप रहने वाला (गति शून्य)है। यह संसार में जितना उत्साहमय कर्तृत्व दिखाई देता है वह एक दिव्य शब्द (दिव्य गति) की ही करामात है। अस्तु, जब मनुष्य विधाता की इस विलक्षण गति द्वारा रचे गये इस विलक्षण ब्रह्मांड पर दृष्टिपात करता है तो वह नतमस्तक हो जाता है और विधाता के

---

*तदेजति। यजुर्वेद ४०।५)

× Unmoved mover—God is morally the source of movement the first mover who Himself is never moved. (The Age of Aristotle P. 46)

+सौते सरमदी="दिव्यशब्द" तात्पर्य दिव्य गति से

प्रति उसका हृदय प्रेम, श्रद्धा और विश्वास से भर उठता है। इसी परिणाम पर पहुंचने के लिए उपनिषत्कार ने यहां सृष्टि-उत्पत्ति का संकेत किया है।

(३) अन्न और रस से पुरुष के शरीर की उत्पत्ति होती है इसलिये उस (स्थूल) शरीर को अन्न-रसमय (कोश) कहा गया है।

नोट—कोश और शरीरों का मिलान इस प्रकरण के अन्त में मिलेगा।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीँ श्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। ये अन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते। अद्यते अत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं

तदुच्यत इति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्यो अन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥

॥ इति द्वितीयाऽनुवाकः ॥

अर्थ—(याः, काः) जो कोई (च, पृथिवीम्, श्रिताः) पृथिवी पर रहते हैं (वै, अन्नात्, प्रजाः प्रजायन्ते) निश्चय अन्न से वे (सब) प्राणी उत्पन्न होते हैं। (अथो, अन्नेन, एव जीवन्ति) और अन्न ही से जीते हैं। (अथ, अन्ततः, एनत्, अपि, यन्ति) और अन्त को इसी में लीन हो जाते हैं।(अन्नम्,हि, भूता नाम्, ज्येष्ठम्) अन्न ही उत्पन्न पदार्थों में बड़ा है। तस्मात्,सर्वौषधम्, उच्यते) इसलिये सर्वौषध कहा जाता है।(अन्नात्, भूतानि, जायन्ते) अन्न से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। (जातानि,अन्नेन, वर्धन्ते)उत्पन्न हुए अन्न से बढ़ते हैं। (अद्यते, अत्ति, च भूतानि) (प्राणियों से) खाया जाता है, और प्राणियों को खा लेता है। (तस्मात्, तत्, अन्नम्, उच्यते) इसलिये, उसको अन्न कहते हैं।

(तस्मात्, वा, एतस्मात्, अन्नरसमयात्) निश्चय उस इस अन्नरसमय (कोष) से (अन्तरः, प्राणमयः, आत्मा, अन्यः) भीतर प्राणमय आत्मा=कोष अन्य है। (तेन, एषः, पूर्णः) उस (प्राणमय कोष) से यह (अन्नरसमय कोष) पूर्ण है। (सः, वै, एषः, पुरुषविधः, एव) निश्चय वह यह (प्राणमय कोष) पुरुषाकार ही है। (तस्य, पुरुषविधतामनु) उस (प्राण रसमय कोष) के पुरुषाकार होने के सदृश (अयं, पुरुषविधः) यह (प्राणमय कोष भी) पुरुषाकार है। (तस्य, प्राणः, एव, शिरः) उसका प्राण ही शिर है। (व्यानः,दक्षिणः,पक्षः) व्यान दाहिना अंग है। (अपानः, उत्तरः, पक्षः) अपान बायां अंग है। (आकाशः, आत्मा) आकाश धड़ है। (पृथिवी, पुच्छम्, प्रतिष्ठा) पृथिवी पूंछ (निकलने के स्थान) की तरह आश्रय स्थान (सहारा) है। (तत्. अपि, एषः, श्लोकः, भवति) इस विषय में यह श्लोक भी है।

व्याख्या—इस अनुवाक में "अन्नं ही भूतानां ज्येष्ठम्" आदि वाक्यों की द्विरावृत्ति,अन्न की श्रेष्ठता दिखलाने के लिए है। अनुवाक में पहले अन्नमय कोष से सम्बन्धित बातें कहते हुए, अन्न की महत्ता प्रदर्शित की गई है। उसके बाद प्राणमय कोष का उल्लेख किया गया है। अन्न शब्द अनेकार्थक है उसके अर्थ जहां खाद्य पदार्थों के हैं वहां ब्रह्म के भी हैं। जल अथवा पृथिवी को भी अन्न कहते हैं। यहां अन्न शब्द भोज्य पदार्थ

और उनके कारण पृथिवी के लिए प्रयुक्त हुआ है। अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) का वर्णन होने से, इस अनुवाक में भूतों का उत्पन्न होना, बढ़ना, खाना और फिर उसी में लीन हो जाना आदि सभी बातें मुख्य रीति से अन्नमय कोष के लिए ही हैं। स्थूल शरीर, पार्थिव पदार्थों ही से बनता, उन्हीं से उन्नति करता और अन्त में उन्हीं में लीन भी हो जाता है।

(२) 'पुरुषविध' शब्द, यहां कोषों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार 'अन्नमय कोष' (स्थूल शरीर) अंगोपांग वाला है, इसी प्रकार, इसके भीतर, इसी आकार का प्राणमय कोश है, जो सूक्ष्म होने से अन्नमय कोष के भीतर रह सकता है। जिस प्रकार प्याज के छिलके एक के बाद दूसरे, एक ही आकार प्रकार के होते है इसी तरह ये सभी कोश एक के भीतर दूसरे एक ही आकार के होते चले गये हैं। अन्तर केवल स्थूल और सूक्ष्म होने का है। अर्थात् भीतर वाले कोश बाहर वालों की अपेक्षा, बराबर सूक्ष्म होते चले गये हैं।

(३) पांच में से केवल तीन प्राणों की बात, इस प्राणमय कोश के सम्बन्ध में इस अनुवाक में कही गई हैं। ये नाम केवल उपलक्षण के तौर पर लिए गए हैं। असल में प्राणमय कोष में सभी प्राणों का समावेश होता है।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति । ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(ये, देवाः, मनुष्याः,पशवः, च, प्राणम्, अनुप्राणन्ति) जो देव (श्रेष्ठ मनुष्य) मनुष्य और पशु हैं (वे) प्राण के आश्रय से श्वास लेते (जीवित रहते हैं) । (प्राणः, हि, भूतानाम् आयुः) प्राण ही प्राणियों की आयु है, (तस्मात्, सर्वायुषम्, उच्यते) इसलिए प्राण को सर्वायु कहते हैं । (ये, प्राणं, ब्रह्म, उपासते) जो प्राण को बड़ा (जीवन का हेतु) समझकर सेवन करते हैं । (ते, सर्वम्, एव, आयुः, यन्ति) वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं । (प्राणः,हि, भूतानाम्, आयुः, तस्मात्, सर्वायुषम्, उच्यते, इति) निश्चय प्राण ही प्राणियों की आयु है इसीलिये उसे सर्वायु कहते हैं ।

नोट—इन अन्त के वाक्यों की द्विरावृत्ति प्राण की श्रेष्ठता दिखलाने के लिए है।

(तस्य, एषः, एव, शारीरः, आत्मा, यः, पूर्वस्य) उस (प्राणमय कोश) का भी, शरीर में रहने वाला, आत्मा, वही है जो पहिले (अन्नमय कोश) का था। (तस्मात्, वै, एतस्मात्, प्राणमयात्) निश्चय उस पूर्वोक्त प्राणमय कोश से (अन्य अन्तरः,आत्मा, मनोमयः) भीतर दूसरा आत्मा (कोश)मनोमय है। तेन, एषः, पूर्णः) उस (मनोमय कोश) से यह (प्राणमय कोश) पूर्ण है। (स, वैः, एष, पुरुषविध, एव) वह मनोमय कोश) भी पुरुषाकार है। (तस्य, पुरुषविधताम्, अनु) उस (प्राणमय कोष) के पुरुषाकार होने की तरह (अयम्,पुरुषविधः) यह (मनोमय कोष) पुरुषाकार है। (तस्य, यजुः, एव, शिरः) उस (मनोमय कोश) का यजुर्वेद शिर है। (ऋक्, दक्षिणः,पक्षः) ऋग्वेद दाहिना अंग है। (साम, उत्तरः, पक्षः) सामवेद बायां अंग है। (आदेशः, आत्मा) आदेश धड़ है। अथर्वाङ्गिरस, पुच्छम्, प्रतिष्ठा) अथर्ववेद पूंछ (निकलने के स्थान) की तरह, आश्रय स्थान है। (तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति) इस विषय में यह श्लोक है।

व्याख्या—इस अनुवाक में प्राणियों की आयु के, श्वास पर निर्भर होने की, महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। प्रारम्भ में यह बतलाते हुए कि सभी प्राणी, प्राण ही से जीवित रहते हैं, प्राण को, प्राणियों की आयु कहा गया है। और यह बात भी

कही गई है कि जो व्यक्ति प्राण की इस महत्ता को समझ कर, उसका श्वास विज्ञानानुकूल पूर्ण श्वास किसे कहते हैं यह जानते हुए, सदुपयोग करते हैं, वे ही पूर्णायु का उपभोग करते हैं और जो नहीं करते उन्हें असमय ही संसार से चल देना पड़ता है।

(२) इस अनुवाक में एक जगह कहा गया है कि उस प्राणमय कोश का, शरीर में रहने वाला जो आत्मा है वही इस मनोमय कोश का भी है—इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा के समझने में गलती नहीं करनी चाहिए। कोश चाहे पांच हों और कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों परन्तु आत्मा (जीव) सबका एक ही है।

(३) मनोमय कोश को भी प्राणमय कोश की तरह, पुरुषाकार बतलाते हुए, यजुर्वेद को उसका शिर, ऋग्वेद और सामवेद को दायां बायां अंग और अथर्ववेद को उसका आश्रय स्थान बताया गया है।

यजुर्वेद में एक जगह मन के भीतर ऋक्, साम तथा यजुर्वेद तीनों प्रकार के मन्त्रों (अर्थात् चारों वेदों) के होने की बात कही गई है। ❀ भाव इस सबका यह है कि ज्ञानसंग्रह करने का साधन और उपलब्ध ज्ञान के सुरक्षित रखने का स्थान मन ही है। इसीलिए मनोमय कोष का सम्बन्ध वेदों से जोड़ा गया है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

❀ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। (यजुर्वेद ३४।५)

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

।। इति चतुर्थोऽनुवाकः ।।

अर्थ—(मनसा, सह, वाचः) मन के साथ वाणी । (अप्राप्य) (ब्रह्म को) न प्राप्त करके (यतः निवर्तन्ते) जहां से लौट आती है (उस) (ब्रह्मणः, आनन्दम्) ब्रह्म के आनन्द को (विद्वान्) जानने वाला (कदाचन, न बिभेति, इति) कभी नहीं डरता । (तस्य, एषः, एव, शारीरः, आत्मा, यः, पूर्वस्य) उस (मनोमय कोश) का शरीर में रहने वाला वही आत्मा है जो पहले(प्राणमय कोश) का था । (तस्मात्, वै, एतस्मात् मनोमयात्) उस (पूर्वोक्त) इस मनोमय कोश से (अन्तरः, अन्यः, आत्मा, विज्ञानमयः) भीतर एक और आत्मा (कोश) विज्ञानमय है । (तेन, एषः, पूर्णः) उस (विज्ञानमय कोश) से यह (मनोमय

कोश) पूर्ण है। (सः, वै, एषः, पुरुषविधः, एव) निश्चय वह यह (विज्ञानमय कोश) भी पुरुषाकार है। (तस्य, पुरुषविधताम् अनु) उस (मनोमय कोश) के पुरुषाकृति के अनुकूल (अयम्, पुरुषविधः) यह (विज्ञानमय कोष) भी पुरुषाकार है। (तस्य, श्रद्धा, एव, शिरः) उस (विज्ञानमय कोश) का श्रद्धा ही शिर है। (ऋतम्, दक्षिणः, पक्षः) ऋत (तीनों काल में एक जैसे रहने वाले वेद नियम) दाहिना अंग है। (सत्यम्, उत्तरः, पक्षः) सचाई बायां अंग है। (योगः, आत्मा) चित्त का समाधान रूपी योग (उसका) धड़ है। (महः, पुच्छम्, प्रतिष्ठा) महः (महत्तत्त्व=समष्टि बुद्धि तत्त्व) पूंछ (निकलने के स्थान) के सदृश आश्रय स्थान है। (तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति) इस पर यह (अगला) श्लोक भी है।

व्याख्या—इस अनुवाक में पहले यह शिक्षा दी गई है कि मन और इन्द्रियां (वाणी का नाम केवल उपलक्षण के तौर पर लिया गया है।) ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकतीं, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं इस लिये जब इनके मार्ग का अनुसरण करना छोड़कर, उपासक अन्तर्मुख होकर ब्रह्म प्राप्त कर लेता है तब वह निर्भीक हो जाता है।

(१) उसके बाद चौथे कोश का विवरण दिया गया है।

(२) मनोमय कोश का भी आत्मा वही है जो पहले प्राणमय का था।

(३) मनोमय कोश के भीतर, उसी प्रकार विज्ञानमय कोश है, जिस प्रकार प्राणमय कोश के भीतर मनोमय कोश।

(४) विज्ञानमय कोश से मनोमय कोश भरपूर है।

(५) मनोमय कोश की तरह वह (विज्ञानमय) कोश भी पुरुषाकार है।

(६) इस विज्ञानमय कोश का शिर श्रद्धा, ऋत दायां और सत्य बायां पक्ष, योग धड़ और बुद्धितत्त्व आश्रय स्थान है।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पंचमोऽनुवाकः

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(विज्ञानम्, यज्ञम्, तनुते) विशेष ज्ञान यज्ञ को फैलाता है। (कर्माणि, अपि, तनुते, च) और कर्म को भी विस्तार देता है। (सर्वे, देवाः, ब्रह्मज्येष्ठम्, विज्ञानम्, उपासते) सभी विद्वान् महान् ब्रह्म की (प्राप्ति के लिये)विज्ञान का सेवन करते हैं। (विज्ञानम्, ब्रह्म, चेत्, वेद) यदि कोई विज्ञानरूपी ब्रह्म (तत्त्व) को जान लेता है। (तस्मात्, चेत्, न, प्रमाद्यति) और यदि उससे प्रमाद नहीं करता अर्थात् उसे भुलाता नहीं तो (शरीरे, पाप्मनः, हित्वा) शरीर में पापों को छोड़ कर (सर्वान्, कामान्, समश्नुते, इति) समस्त कामनाओं को प्राप्त हो जाता है। (तस्य, एषः, एव, शारीरः, आत्मा, यः, पूर्वस्य) उस (विज्ञानमय कोश) का शरीर में रहने वाला यही आत्मा है जो पहले (मनोमय कोश) का था। (तस्मात् वै, एतस्मात् विज्ञानमायात्)निश्चय पूर्वोक्त इस विज्ञानमय कोश से(अन्तरः, अन्यः, आत्मा, आनन्दमयः) भीतर एक और आत्मा=कोश आनन्दमय है (तेन, एषः, पूर्णः) उस (आनन्दमय कोश) से यह (विज्ञानमय कोश) पूर्ण है। (सः, वै, एषः, पुरुषविधः, एव)वही यह (आनन्दमय कोश) पुरुषाकार ही है।(तस्य, पुरुषविधताम्, अनु अयम्, पुरुषविधः) उस (विज्ञानमय कोश) के पुरुषाकार होने के सदृश, यह (आनन्दमय कोश) भी पुरुषाकृति वाला है। (तस्य, प्रियम्, एव, शिरः) उसका प्रेम ही शिर है। (मोदः, दक्षिणः, पक्षः) हर्ष (उसका) दायां अंग है। (प्रमोदः, उत्तरः, पक्षः) और विशेष हर्ष बायां अंग है। (आनन्दः, आत्मा) आनन्द

उसका धड़ है । (ब्रह्म, पुच्छम्, प्रतिष्ठा) और ब्रह्म पूंछ (निकलने का स्थान) रूपी आश्रय स्थान है । (तत् अपि, एषः, श्लोकः, भवति) उसी पर यह अगला श्लोक है ।

व्याख्या—इसमें प्रथम विज्ञानमय कोशान्तर्गत विज्ञान की, इस प्रकार प्रशंसा की है :—

(१) विज्ञान से समस्त यज्ञों और उत्तम कर्मों का विस्तार होता है ।

(२) सभी विद्वान्, ब्रह्म प्राप्ति के लिये, विज्ञान को प्रयोग में लाया करते हैं ।

(३) जब कोई विद्वान् विज्ञान तत्त्व को जान लेता है और उसके प्रयोग में आलस्य नहीं करता तो उससे पाप छूट जाते हैं और उसकी समस्त वासनायें पूरी हो जाती हैं । अब इसके बाद अन्तिम कोश का विवरण दिया गया है ।

(४) इस विज्ञानमय कोश का आत्मा वही है जो मनोमय कोश का था ।

(५) इस विज्ञानमय कोश के भीतर एक और सूक्ष्म आनन्द-मय कोष है जिससे यह (विज्ञानमय कोश) परिपूर्ण है ।

(६) यह आनन्दमय कोश भी, विज्ञानमय के सदृश, पुरुषाकार है ।

(७) इसका शिर प्रेम, दायां तथा बायां अंग मोद और प्रमोद, आनन्द धड़ और ब्रह्म इसका आश्रय स्थान है ।

इस प्रकार उपनिषद्कार ने यह पंच कोशों का विवरण देते हुए इस अनुवाक को समाप्त किया है ।

यह ब्रह्मानन्दवल्ली है। कोशों का इस ब्रह्मानन्द से क्या सम्बन्ध है ? स्थूल शरीर आदि के भेद स्वतन्त्र हैं अथवा उन का इन कोशों से कुछ सम्बन्ध हैं ? इन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश पड़ने की जरूरत है। इसी उद्देश्य से पंच कोशों के सम्बन्ध में आवश्यक बातें यहां अंकित की जाती हैं:—

पञ्च कोश

यहां पञ्च कोशों के सम्बन्ध में जो बातें लिखी गई हैं— पहले हम उन्हीं का उल्लेख करते हैं, उनके समझे विना यह विषय सुगमता से समझ में नहीं आ सकेगा।

नीचे के चित्र को देखें :—

सं.	नाम कोश	कोश का शिर	दक्षिण पक्ष	उत्तर पक्ष	धड़	आश्रय स्थान	विशेष
१.	अन्नमय कोश	दिखाई देने वाला शिर	दाहना बाजू	बायां बाजू	मध्य शरीर	गुदा का ऊपरी भाग	स्थूल शरीर
२.	प्राणमय कोश	प्राण	व्यान	अपान	आकाश	पृथिवी	सूक्ष्म शरीर
३.	मनोमय कोश	यजुर्वेद	ऋग्वेद	सामवेद	आदेश	अथर्ववेद	
४.	विज्ञानमय कोश	श्रद्धा	ऋत	सत्य	योग	महत्तत्व	
५.	आनन्दमय कोश	प्रेम	मोद	प्रमोद	आनन्द	ब्रह्म	कारण शरीर

इन कोशों के सम्बन्ध में ये बातें भी ध्यान में रखने योग्य हैं:—

(१) क्रमपूर्वक एक कोश दूसरे के भीतर है अर्थात् अन्नमय के भीतर प्राणमय उसके भीतर विज्ञानमय इत्यादि।

(२) प्रत्येक भीतरी कोश अपने समीपवर्ती बाहरी कोश में फैला हुआ है।

(३) प्रत्येक कोश पुरुषशरीराकार है:

यह सब विवरण कोशों का वही है जो उपनिषद्कार ने दिया है।

"पंच कोशों पर विचार"

(१) उपर्युक्त चित्र पर विचार करने से यह बात साफ तौर से प्रकट हो रही है कि इन कोशों का क्रम, बाहर से भीतर चलने की ओर है।

इनमें से प्रथम के ३, अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश ये हैं जिनका बाहरी और भीतरी इन्द्रियों से सम्बन्ध है। इसी लिये इनके सम्बन्ध में उपनिषद्कार ने, स्पष्ट रीति से, लिख दिया है कि इनके द्वारा ब्रह्म प्राप्त होने के योग्य नहीं है, किन्तु उन्होंने कहा है कि जब ये समस्त इन्द्रियां मन के साथ ब्रह्म को प्राप्त न करके स्थानविशेष से लौट आती हैं तब विज्ञानमय कोश द्वारा, उपासक ब्रह्म की ओर चला करता है। वह स्थान-विशेष जहां तक इन्द्रियों की पहुंच है, वह है जहां मनोमय कोश की सीमा समाप्त होती है, उसके आगे मन और इन्द्रियों की गति (पहुंच) नहीं है। यहां एक बात याद रखने के योग्य है कि

यद्यपि उपर्युक्त तीनों कोश ब्रह्म प्राप्ति के साक्षात् कारण नहीं है परन्तु असाक्षात् कारण अवश्य हैं क्योंकि इनके बाहर से हट कर भीतर की ओर चलने की प्रवृत्ति ही के कारण, उपासक की पहुंच विज्ञानमय कोश से आगे होती है।

विज्ञानमय कोश, अन्तःकरणों की बाहरी और भीतरी वृत्तियों का सन्धि स्थान (Junction) है। उस (विज्ञानमय कोश) के बाहर की ओर होने से आत्मा का मन और इन्द्रियों के साम्राज्य में प्रवेश होता है और उसके भीतर की ओर चलने से उसे आत्मा-जगत् का प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगता है।

(२) इन कोशों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि किन-किन योग्यताओं के प्राप्त होने से, उपासक इन कोशों की दुनिया में प्रविष्ट होकर बराबर आगे बढ़ता चला जाता है। उन्हीं का यहां विवरण देना है:—

पहली योग्यता—पहले कोश का विवरण देते हुए, उपनिषद् में मनुष्य को "अन्नरसमय" लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्नमय होकर उसे पुष्ट और नीरोग शरीर वाला होना चाहिये और रसमय होकर वीर्य्यवान् और ओजस्वी होना चाहिये। इन दोनों गुणों के एकत्र हो जाने से मनुष्य, मनुष्य कहे जाने के योग्य हुआ करता है।

दूसरी योग्यता—अब उसे प्राणमय होना चाहिये। इस प्राणमय होने का अर्थ यह है कि प्राणायाम आदि के द्वारा उसके प्राण पुष्ट और ऐसे होने चाहियें कि प्रत्येक प्राण, अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में रहते हुए, अपने-अपने कार्यों को उत्तम

रीति से करे। प्राणों के पुष्ट और प्रभावशाली होने से, मनुष्य के भीतर निष्काम होकर कर्म करने की योग्यता आ जाया करती है।

तीसरी योग्यता—उपर्युक्त दोनों योग्यताओं के प्राप्त करने के बाद अब मनुष्य को ज्ञानोपार्जन करना चाहिये। इसीलिए मनोमय कोश के अंग चारों वेद कहे गये हैं। चारों वेदों के साथ "आदेश" को इस (मनोमय) कोश का धड़ बतलाया गया है। आदेश—आज्ञा, उपदेश, शिक्षा, शासन और नियम को कहते हैं। यहां अन्त के दो अर्थों का लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। अर्थात् ज्ञानोपलब्धि के साथ ही उपासक को, आत्म शासक और नियम तथा मर्यादा के भीतर रहने वाला होना चाहिये।

चौथी योग्यता—अब उपासक को बाह्य जगत् से, अपना सम्बन्ध कम करके भीतर की (आत्मा) दुनिया में चलना है इसलिए अब उसी के अनुरूप उसे बनाना चाहिये। आत्म-जगत् के अनुरूप बनने के लिए पांच बातों की जरूरत है और यही पांच बातें विज्ञानमय कोश के अङ्गोपाङ्ग हैं:—

(१) श्रद्धा—सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण इसी (श्रद्धा) की प्राप्ति के लिये ऊपर दिया जा चुका है। जब उपासक ईश्वर के इस असीम जगत् और उसकी अभूतपूर्व रचना को देखता और उस पर विचार करता है तब उसका हृदय, उस महान् प्रभु के प्रेम और श्रद्धा से भरपूर हो उठता है।

(२) ऋत वेदों में वर्णित, ईश्वर प्राप्ति के नियमों की जानकारी और उनके अनुकूल आचरण करना, ऋत का अभिप्राय है।

(३) सत्य—मन, वाणी और आचरण में समता का भाव सदैव बनाये रखना, सत्य का आचार=सदाचार है।

(४) योग—चित्त की बाहर जाने वाली वृत्तियों का निरोध जिससे आत्मा अन्तर्मुखी होकर आत्म-चिन्तन और परमात्म-चिन्तन में लीन हो।

(५) महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धितत्त्व उस (उपासक) का आश्रय स्थान होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि उसे निरहंकार होकर अहंकार (ममता) की दुनिया से ऊपर हो जाना चाहिए।

इन योग्यताओं के प्राप्त कर लेने पर उपासक अन्तिम (आनन्दमय) कोश में प्रवेश करने का अधिकारी बना करता है।

पांचवीं योग्यता—विज्ञानमय कोश से सम्बन्धित योग्यताओं के प्राप्त कर लेने पर, उपासक प्रेम के मन्दिर का पुजारी बन जाता है। अतः वह प्रेममय और प्रेम की मूर्ति बन चुका है। इधर-उधर कहीं कोई भी नहीं जो उसका प्रेमोपहार न प्राप्त कर चुका हो। इस प्रकार प्रेम के मन्दिर में प्रविष्ट होकर, मोद, प्रमोद और अन्त में (आत्मा के) आनन्द में उपासक मग्न हो जाता है। अब उसका प्रियतम ही उसका आश्रय स्थान है और इधर-उधर सभी ओर वह उसे देखता और उसी के प्रेम और भक्ति में लवलीन हो रहा है।

यही मनुष्य जीवन का चरमोद्देश्य और यही आत्मा की अन्तिम गति है। यहां पहुंच कर उपासक व्यास के शब्दों में

कह उठता है "प्राप्तं प्राप्तव्यम्" अर्थात् जो प्राप्त होने योग्य था वह प्राप्त हो गया।

(३) अस्तु, इन कोशों की बात समाप्त करते हुए अन्त में यह प्रकट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, जैसा चित्र के "विशेष" कालम में लिखा गया है, इन पांच कोशों का क्रम तीनों शरीरों से भिन्न नहीं है। अन्नमय कोश, स्थूल शरीर स्थानी, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तीनों कोश मिलकर सूक्ष्मशरीर स्थानी और अन्तिम आनन्दमय कोश, अन्तिम कारण शरीर स्थानी है।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य, कश्चन गच्छति ३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ। सो ऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदँ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्।

तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाऽभवत् । निरुक्तंचानिरुक्तञ्च । निलयनञ्चानिलयनञ्च । विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च । सत्यञ्चानृतञ्च । सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(असत्, ब्रह्म, इति, चेत्, वेद) ब्रह्म असत्, ऐसा जो जानता है, (सः, असत्, एव, भवति) वही असत् होता है, (ततः एनम्, सन्तम्, इति, विदुः) तब उसको (लोग) सत् है, ऐसा जानते हैं। (तस्य, एषः, एव, शारीरः आत्मा, यः, पूर्वस्य) (उस आनन्दमय कोश) का यही शरीर में रहने वाला आत्मा है जो पहले (विज्ञानमय कोश) का था। (अथ, अतः, अनुप्रश्नाः) अब इससे आगे ये प्रश्न हैं। (उत,कश्चन,अविद्वान्, प्रेत्य, अमुम्, लोकम्, गच्छति) क्या कोई अविद्वान् (ब्रह्म को न जानने वाला) मर कर उस (आनन्दमय=ब्रह्म) लोक को जाता है? (आहो, कश्चित्, विद्वान्, प्रेत्य, अमुम्, लोकम्, समश्नुते अथवा कोई ब्रह्मज्ञ मरकर उस लोक को प्राप्त करता है ? (सः, अकामयत) उस (ब्रह्म) ने इच्छा की कि (बहु,स्याम्, प्रजायेय, इति) मैं बहुत हो जाऊं और प्रजा वाला हो जाऊं। (सः, तपः, अतप्यत) उसने तप तपा। (सः, तपः, तप्त्वा, इदम्, सर्वम्, असृजत) उसने तप-तप कर इस सबको उत्पन्न

किया। (यत्, इदम्, किम्, च) जो कुछ यह (जगत्) है। (तत् सृष्ट्वा, तत्, एव अनुप्राविशत्) उस (समस्त जगत्) को पैदा करके वह (ईश्वर) उसमें अनुप्रविष्ट हुआ। (तत्, अनुप्रविश्य, सत्, च, त्यत्, च, अभवत्) उसमें प्रविष्ट होकर (वह ब्रह्म) व्यक्त और अव्यक्त हुआ। (निरुक्तम्, च, अनिरुक्तम्, च) निर्वचनीय और अनिर्वचनीय हुआ। (निलयनम्,च अनिलयनम्, च) आधारवान् और निराधार। (विज्ञानम् च, अविज्ञानम्, च) चेतन और जड़। (सत्यम्, च, अनृतम्, च) सत्य और असत्य अर्थात् कारण और कार्य। (सत्यम्, अभवत्) सत्य हुआ। (यत्, इदम्, किम्, च) जो कुछ यह है। (तत्, सत्यम्, इति आचक्षते) वह सत्य है ऐसा कहा जाता है। (तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति) इस विषय में यह श्लोक भी है।

व्याख्या—इस अनुवाक का पहिला भाग जो ब्रह्म की सत्ता से सम्बन्ध रखता है, पहले अनुवाक से सम्बन्धित है। इससे पहले (पांचवें अनुवाक में) आनन्दमय कोश का विवरण देते हुये उसकी पुष्टि में यह श्लोक (अर्थात् इस अनुवाक का पहला भाग) है, तात्पर्य यह है कि उस आनन्दमय ब्रह्म को जानने ही से मनुष्य श्रेष्ठ बना करता है परन्तु जो असत् कहते अर्थात् उसकी सत्ता से इन्कारी है, उनके लिये उपनिषद् में यहां कहा गया है कि वे स्वयं असत् अर्थात् विश्वास करने के सर्वथा अयोग्य हैं।

(२) दूसरी बात जो अनुवाक में कही गयी है, वह वही

है जो पिछले अनुवाकों में बराबर कही जाती चली आ रही है अर्थात् इस आनन्दमय कोश के भीतर रहने वाला जीवात्मा वही है जो विज्ञानमय कोश का था। अर्थात् समस्त पांचों कोश, शरीर में रहने वाले उसी एक जीवात्मा के आधीन रहते हुए अपना-अपना काम करते हैं।

(३) इस अनुवाक में प्रश्न रूप में तीसरी शिक्षा दी गई है, दो प्रश्न किये गये हैं:—

(१) क्या कोई अविद्वान् मर कर उस (आनन्दमय) लोक को जाता है?

(२) अथवा क्या कोई ब्रह्मज्ञ मर कर उस (आनन्दमय) लोक को जाता है?

इन प्रश्नों का उत्तर इन प्रश्नों के ठीक बाद यद्यपि नहीं दिया गया है, परन्तु वास्तव में इससे पहले अनुवाकों में साफ साफ उत्तर दिया जा चुका है। इससे पहले (पांचवें) अनुवाक में कहा गया है कि "यदि कोई विज्ञान रूपी ब्रह्म (तत्त्व) को जान लेता है और उससे प्रमाद नहीं करता तो समस्त पापों को शरीर ही में छोड़कर समस्त कामनाओं (मोक्ष=ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त) को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट रीति से पहले प्रश्न का उत्तर निषेधपरक और दूसरे प्रश्न का उत्तर हां में दिया जा सकता है। इन प्रश्नों के यहां लिखने का अभिप्राय केवल यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक पाठक को अपने हृदय से यही दोनों प्रश्न करके, उनके उत्तर, अपने लिये लेने चाहियें। ऐसा करने से, उन्हें उत्तर, वही मिलेगा जो दिया जा चुका है, तब

स्वाभाविक रीति से उनके हृदयों में ब्रह्म के जानने की इच्छा पैदा होगी, उसी इच्छा की पूर्ति के लिये अन्त की बात, इस अनुवाक में कही गई है।

(४) ईश्वर के जानने का, सर्वश्रेष्ठ साधन, उसका रचा हुआ जगत् है इसलिये जगत्-रचना के सम्बन्ध में जो बातें उपनिषद् में इससे पहले कही गई हैं, यहां उनसे पहले की बात कहते हैं। यहां जो बात कही गई है, उसका विवरण इस प्रकार है:—

पहली बात—ईश्वर ने इच्छा की कि मैं बहुत और प्रजा-वाला हो जाऊं। बहुंत होने का अर्थ यह नहीं है कि अनेक ईश्वर हो जावें, किन्तु जगत् के पदार्थों के कारणमें व्यापक होते हुये भी उन पदार्थों के बन जाने पर ईश्वर उनमें अनुप्रविष्ट हुआ करता है। जैसे मनुष्य का प्राकृतिक शरीर और आत्मा इन दोनों में ईश्वर पृथक्-२ रहा करता है और अब मनुष्य के शरीर और आत्मा के मिलकर उत्पन्न होने पर भी ईश्वर उसमें प्रविष्ट हुआ, इसलिये उसे अनुप्रविष्ट कहते हैं। ईश्वर इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अनुप्रविष्ट और तद्रूप होकर घटाकाश, मठाका-शवत् उस वस्तु के प्रतिरूप समझा जाने से, बहुत कहा जाने लगता है। परन्तु वास्तव में वह रहता सदैव एक ही है। जैसा एक जगह उपनिषद् में कहा गया है कि 'जिस प्रकार अग्नि या वायु एक भूत होने पर, वस्तुओं में प्रविष्ट होकर, तद्रूप हो जाया करते हैं, इसी प्रकार, वह सर्वभूतान्तरात्मा एक होने पर

भी सबमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तु के प्रतिरूप हो जाया करता है, परन्तु रहता सदैव उन वस्तुओं से पृथक् ही है।"❀

इस प्रकार असंख्य वस्तुओं में प्रविष्ट (व्यापक) होकर वह (ईश्वर) शब्द मात्र से बहुत कहा जाया करता है परन्तु इससे उसके एकत्व अथवा सबसे पृथक्त्व में बाधा नहीं पहुंचती—यही उसका बहुत हो जाना अथवा बहुत प्रजा वाला हो जाना है।

दूसरी बात—उस (ईश्वर)ने बहुत और प्रजा वाला (प्रजा-पति) होने के लिये तप तपा अर्थात् ईक्षण किया, जिसका सविस्तार वर्णन इस वल्ली के प्रथमानुवाक में हो चुका है। उस (ईक्षण) के करने से यह समस्त ब्रह्माण्ड, जैसा कहा जा चुका है, उत्पन्न हो गया। और वह (ईश्वर) उपर्युक्त भांति उन सबमें अनुप्रविष्ट हुआ।

तीसरी बात—अनुप्रविष्ट होकर यह जगत् में निम्न भांति प्रकट हुआ:—

(१) सत्=व्यक्त और असत्=अव्यक्त रूप में।

(२) निरुक्त=निर्वचनीय और अनिरुक्त=अनिर्वचनीय।

(३) निलयन=आश्रयवान् और अनिलयन—निराश्रित।

❀अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(कठोपनिषद् ५। ९। १०)

(४) विज्ञान=चेतन और अविज्ञान=जड़ ।

(५) सत्य=कारण और अनृत—कार्य्य ।

संसार में जितनी चीजें हैं,वे सब उपर्युक्त द्वन्द्व रूपों ही में हैं । कुछ वस्तुएं ऐसी हैं कि वे व्यक्त हैं, जैसे अग्नि, जल और पृथिवी आदि, परन्तु कुछ ऐसी हैं जो अव्यक्त हैं, जैसे आकाश और वायु इत्यादि ।

(२) कुछ ऐसी हैं जिनका मनुष्य निर्वचन कर सकते हैं जैसे स्थूल भूत परन्तु कुछ ऐसी हैं जिनका,स्थूल भूतों की भांति निर्वचन नहीं किया जा सकता जैसे सूक्ष्म भूत—

(३) कुछ ऐसी हैं जिनकी स्थिति, अन्यों के आश्रय से है जैसे वृक्षादि पृथिवी का और पृथिवी आदि सूर्य्य का आश्रय रखते हैं और कुछ ऐसी हैं जो पृथिवी आदि की भांति अपना आश्रय नहीं रखते जैसे सूर्य्य आदि ।

(४) कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो चेतन हैं और कुछ ऐसे हैं जो जड़ हैं ।

(५) कुछ वस्तुएं कारण रूप में और कुछ कार्य रूप में हैं ।

ईश्वर इन सभी द्वन्द्वों में व्यापक है और व्यापकत्व से तद्-रूप और तदाकार भी है जैसा कहा जा चुका है । इसी लिये कहा गया है कि वह ब्रह्माण्ड में इन सब रूपों में प्रकट हुआ । जैसे पहले भी कहा जा चुका है, एक लोहे को खूब गरम करके अग्निमय (लाल) कर लें तो उसे लोहा भी कह सकते हैं क्योंकि वह लोहे का बना हुआ है और अग्नि भी कह सकते हैं

क्योंकि वह अग्निमय है और निकट पहुंच जाने से किसी भी वस्तु को जला भी सकता है। इसी प्रकार जगत् में उत्पन्न सूर्य चन्द्र आदि यद्यपि प्राकृतिक हैं और इनका उपादान कारण प्रकृति है परन्तु ईश्वर उपादान कारण और कार्य्य से पृथक् होते हुए इनमें व्यापक है, इसलिये व्यापकत्व के नाते से यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर इन रूपों में प्रकट हो रहा है।

चौथी बात—जो कुछ यह ब्रह्माण्ड है, जिसका ऊपर उल्लेख हुआ, वह सत्य है और इसीलिए उसे सत्य कहते हैं। सत्य का निर्वचन इस प्रकार किया जाता है:—'सच्च त्यच्चास्त्यस्मिन्निति सत्यम्।'' अर्थात् सत् और त्यत् (सत्+त्यत्) मिलकर सत्य होता है। ईश्वर भी सत्य है क्योंकि उसमें सभी व्यक्त और अव्यक्त पदार्थ विद्यमान रहते हैं और वह स्वयं भी योगी और उपासकों के लिए व्यक्त (प्रकट) और अन्यों के लिए अव्यक्त (अप्रकट) रहा करता है और जगत् भी सत्य है क्योंकि वह भी व्यक्त और अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

———

अथ सप्तमाऽनुवाकः

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी

भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(असत्, वै, इदम्, अग्रे, आसीत्) निश्चय पहले यह असत् था (ततः, वै, सत्, अजायत्)उससे ही सत् उत्पन्न हुआ। (तत् आत्मानम्, स्वयम्, अकुरुत) उसने अपने को स्वयं बनाया (तस्मात्, तत्, सुकृतम्, इति, उच्यते) इसलिये वह सुकृत ऐसा कहा जाता है। (यत्, वै, तत्, सुकृतम्) निश्चय जो वह सुकृत है। (रसः वै, सः) वही रस है। (रसम्, हि, एव, अयम्, लब्ध्वा, आनन्दी, भवति)रस ही को यह पाकर सुखी होता है। (यत्, एषः, आकाशः, आनन्दः, न, स्यात्) जो यह आनन्द रूप आकाश (परमात्मा) न होता (तो) (कः, हि, एव,अन्यात्, कः, प्राण्यात्) कौन जी सकता, कौन श्वास ले सकता। (एषः, हि, एव, आनन्दयाति) यही आनन्द देता हैं। (यदा, हि, एव, एषः, एतस्मिन्,अदृश्ये, अनात्म्ये, अनिरुक्ते, अनिलयने,'अभयम् प्रतिष्ठाम्, विन्दते)निश्चय जभी यह (जीव) इस अदृश्य, निराकार, अनिर्वचनीय,निराधार,(परमात्मा में)अभय प्रतिष्ठा(निर्भीकता

मय स्थिति) प्राप्त कर लेता है। (अथ,सः, अभयं, गतः,भवति) तब वह निर्भीक हो जाता है। (यदा, हि, एव, एषः, एतस्मिन्, उत्, अरम्, अन्तरम्, कुरुते) और जब यह इसमें जरा सा भी अन्तर करता है। (अथ, तस्य, भयम्, भवति) तब उसको भय होता है। (अमन्वानस्य, विदुषः, तत्, तु, एव, भयम्) ब्रह्मज्ञान रहित विद्वान् का ही वह भय होता है।(तत्,अपि, एषः,श्लोकः, भवति) इस पर यह श्लोक भी है।

व्याख्या—जगत् की उत्पत्ति से पहिले कारणरूप प्रकृति अव्यक्त और अप्रसिद्ध अवस्था में थी, इसीलिये उसे यहां असत् कहा गया है। ब्रह्माण्ड के अभाव होने की वजह से ईश्वर भी अव्यक्त और अप्रसिद्ध ही था इसलिये वह भी असत् रूप में ही था। जगत् की उत्पत्ति होने से जहां एक ओर अव्यक्त प्रकृति कारण से कार्य अवस्था में आने से,व्यक्त और प्रसिद्ध हुई,वहां दूसरी ओर ईश्वर भी, जगत् रचयिता के रूप में,रचना गुण के प्रत्यक्ष होने से,व्यक्त और प्रसिद्ध हुआ क्योंकि प्रत्यक्ष गुणी का नहीं अपितु गुण ही का हुआ करता है और गुण ही के प्रत्यक्ष होने से गुणीभी प्रत्यक्ष समझा और माना जाया करता है। यही जगत् के प्रारम्भ होने से पहले, असत् का होना और उससे सत् का उत्पन्न हो जाना है। ईश्वर,कहा जाचुका है कि ब्रह्मांडान्तर्गत वस्तुओं के उत्पन्न होने पर,अपने सर्वव्यापकत्व से प्रत्येक वस्तु में, उसके प्रतिरूप होकर,अनुप्रविष्ट हुआ करता है। यही उसका अपने को बनाना अर्थात् प्रकट करना है। स्वयंभू होने

से, ईश्वर इस प्रकार स्वयं अपने को बनाता अर्थात् प्रकट करता है, इसलिये उसका नाम "सुकृतम्" है। सुकृतम् के अर्थ हैं अच्छा बना और सुकृत अच्छा बनाने वाले को कहते हैं। विभक्ति व्यत्यय मान लेने से जैसा आर्ष ग्रन्थों में, माना जाता है, सुकृतम् के अर्थ भी, अच्छा बनाने वाला हो जाते हैं। जगत् के अच्छे बने हुए होने में, कौन सन्देह कर सकता है ? इस लिये ईश्वर जगत् का, अच्छा बनाने वाला, उचित रीति से कहा जा सकता है।

(२) अब उसी जगत् के अच्छा बनाने वाले (सुकृतम्) के लिये कहा गया है कि वही रस अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड का सार है और उसी के प्राप्त कर लेने से, मनुष्य आनन्द प्राप्त किया करता है। ईश्वर को, उसके व्यापकत्व के कारण, आकाश कहते हैं इसी लिये यहां कहा गया है कि यदि वह आनन्दरूप ब्रह्म (आकाश) न होता तो संसार में कौन जी सकता और कौन श्वास ले सकता था अर्थात् समस्त जगत् का व्यापार, उसी (ईश्वर) की प्रदत्त गति ही से हो रहा है। यदि वह जड़ प्रकृति मे गति का संचार न करता तो जगत् का व्यापार तो अलग रहा, स्वयं जगत् भी नहीं बन सकता था। अस्तु, समस्त जगत् का व्यापार, जगत् में उसके व्यापकत्व ही से हुआ करता है और वही अधिकारी मनुष्यों को, आनन्द भी दिया करता है।

जब मुमुक्षु, उसी अदृश्य अर्थात् आंखों से न दिखलाई देने वाले, निराकार, अनिर्वचनीय, निराधार ईश्वर में अभय प्रतिष्ठा

प्राप्त कर लेता है तभी वह अभय पदाधिकारी होकर निर्भीक हो जाया करता है। परन्तु जो दुर्भाग्य वाले पुरुष इसमें जरा-सा भी शक करते हैं,वे उस अभय पद को नहीं प्राप्त कर सकते और भयभीत रहा करते हैं परन्तु यह भय केवल उन्हीं ब्रह्म-ज्ञानरहित मनुष्यों को होता है, अन्यों को नहीं।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मा-दग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रि-यस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणा-मानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकाना-

मानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपि यन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दाः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये । स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति ।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(अस्मात् भीषा, वातः, पवते) इस [ईश्वर] के भय से हवा चलती है। (भीषा, सूर्यः, उदेति) [उसके] भय से सूर्य उदय होता है। (अस्मात्, भीषा, अग्निः, च, इन्द्रः, च) उसी के भय से अग्नि और इन्द्र (विद्युत्) भी [अपना-अपना काम करते हैं] (पञ्चमः, मृत्युः, धावति) पांचवां मृत्यु भी दौड़ता है (अपना काम करता है)। (सा, एषा, आनन्दस्य, मीमांसा, भवति) अब यह आनन्द की मीमांसा प्रारम्भ होती है। (युवा, साधु युवा, अध्यापकः, स्यात्) कोई युवा जो साधु [श्रेष्ठ] और वेद का ज्ञाता भी हो। (आशिष्टः, द्रढिष्ठः, बलिष्ठः) शासक, दृढ़, और बलवान् हो (तस्य, इयम्, पृथिवी, सर्वा, वित्तस्य, पूर्णा, स्यात्) उसकी यह समस्त पृथिवी धन से परिपूर्ण हो। (सः, एकः, मानुषः, आनन्दः) वह एक, मनुष्य का आनन्द है। (ते, ये, शतम्, मानुषाः, आनन्दाः) वे जो सौ, मनुष्य के आनन्द हैं। (सः, एकः, मनुष्यगन्धर्वाणाम्, आनन्दः) वह मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द है। (श्रोत्रियस्य, च, अकामहतस्य), कामशक्ति रहित वेदपाठी का भी [वह एक आनन्द है] (ते, ये, शतम्, मनुष्यगन्धर्वाणाम्, आनन्दाः) वे जो मनुष्य गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं। (सः, एकः, देवगन्धर्वाणाम्, आनन्दः) वह देवगन्धर्वों का एक आनन्द है। (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च) कामासक्ति रहित वेद के विद्वान् का भी [वह एक आनन्द है] (ते, ये, शतम्, देवगन्धर्वाणाम्, आनन्दाः) वे जो देव गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं। (सः, एकः, चिरलोकलोकानाम्,

पितृणाम्, आनन्दः) वह चिरकाल तक उत्तम लोकों में रहने वाले पितरों का एक आनन्द है। (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य,च) कामनाओं से न दबे हुए वेदज्ञ का भी (वह एक आनन्द है) (ते, ये, शतम्, पितृणाम्, चिरलोकलोकानाम्, आनन्दाः) वे जो चिरकाल तक उत्तम लोकों में रहने वाले पितरों के सौ आनन्द हैं(सः, एकः, आजानजानाम्, देवानाम् आनन्दः)वह जन्म ही से दिव्य गुणयुक्त विद्वानों का एक आनन्द है । (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च) कामपीड़ारहित वेद के विद्वानों का भी[वह एक आनन्द है] । (ते,ये, शतम्, आजानजानाम्, देवानाम्, आनन्दाः) वे जो जन्म ही से दिव्य गुणयुक्त विद्वानों के सौ आनन्द हैं (सः, एकः, कर्मदेवानाम्, देवानाम्, आनन्दः) वह कर्म से देवत्व प्राप्त किये हुए विद्वानों का एक आनन्द है । (ये कर्मणा, देवान्, अपि यन्ति) जो कर्म ही से देवत्व को प्राप्त करते हैं। (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च)कामनारहित वेद के विद्वानों का भी [वह एक आनन्द है] ।(ते, ये,शतम्, कर्मदेवानाम्, आनन्दाः) वे जो कर्म से देवत्व प्राप्त विद्वानों के सौ आनन्द हैं। (सः, एकः, देवानाम्, आनन्दः) वह (जन्म कर्म और दोनों से देवत्व प्राप्त) विद्वानों का एक आनन्द है । (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च) काम दोषरहित वेद के विद्वानों का भी[वह एक आनन्द है] (ते, ये, शतम्, देवानाम्, आनन्दाः) वे जो [जन्म और कर्म दोनों से देवत्व प्राप्त] विद्वानों के सौ आनन्द हैं। (सः, एकः, इन्द्रस्य, आनन्दः) वह [ऐश्वर्य और विद्या में

निपुण]विद्वानों के नेता (इन्द्र) का एक आनन्द है। (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च)तृष्णा रहित वेद के विद्वान् का भी[वह एक आनन्द है)। (ते, ये, शतम्, इन्द्रस्य, आनन्दाः) वे जो सौ इन्द्र के आनन्द हैं। (सः, एकः, बृहस्पतेः, आनन्दः) वह बृहस्पति (इन्द्रादि देवों के गुरु उपदेष्टा), का एक आनन्द है। (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च) कामनाओं से ऊपर हुए वेद के विद्वान् का भी (वह एक आनन्द है) (ते, ये, शतम्, बृहस्पते, आनन्दाः) वे जो बृहस्पति के सौ आनन्द हैं। (सः, एकः, प्रजापतेः, आनन्दः) वह प्रजापति [सम्राट्] का एक आनन्द है (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च) कामजित् वेद के विद्वान् का भी [वह एक आनन्द है] (ते, ये, शतम्, प्रजापतेः, आनन्दाः) वे जो प्रजापति के सौ आनन्द हैं। (सः, एकः, ब्रह्मणः, आनन्दः) वह ब्रह्म (ईश्वर) का एक आनन्द है। (अकामहतस्य, श्रोत्रियस्य, च) सर्वश्रेष्ठ त्यागी वेद के विद्वान् का भी (वह एक आनन्द है)। (सः, यः, च, अयम् पुरुषे) वह जो इस पुरुष में है और (यः, च, असौ, आदित्ये) जो उस सूर्य में है। (सः, एकः) वह एक ही है। (सः, यः, एववित्) वह जो ऐसा (ईश्वर के एकत्व का जानने वाला है।) (अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य) इस (आवागमन सम्बन्धी) लोक से पृथक् हो कर (एतम्, अन्नमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस अन्नमय आत्मा (कोश) को छोड़कर आगे जाता है। (एतम् प्राणमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति)इस प्राणमय कोश को छोड़ कर आगे

जाता है। (एतम्, मनोमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस मनोमय कोश को छोड़कर आगे जाता है (एतम्, विज्ञानमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस विज्ञानमय कोश को छोड़ कर आगे जाता है। (एतम्, आनन्दमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस आनन्दमय कोश को छोड़कर आगे जाता है। (तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति) इस पर भी यह श्लोक है।

व्याख्या—इससे पहले अनुवाक् के अन्त में कहा गया है कि जो मनुष्य ब्रह्म में अभय प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है, वह अभय पद प्राप्त कर लेता है। अर्थात् संसार में सम्बन्धित पदार्थों के भय से वह ऊपर हो जाता है, क्योंकि जैसा कि इस अनुवाक के आरम्भ में, उपर्युक्तवाद की पुष्टि में कहा गया है कि संसार के पदार्थ अग्नि, वायु, सूर्यादि तो उसी (ईश्वर) के भय(मर्यादा में रखने वाले नियम) से अपना-अपना काम करने के लिये मजबूर हैं। फिर यह, उस जीवन्मुक्त को, जिसने उसी प्रभु का आश्रय ले लिया है, जिसके डर से अपना-अपना काम करते हैं, किस प्रकार डरा सकते हैं?

(२) अब उसी (ईश्वर) की प्राप्ति और उसकी प्राप्ति से जो आनन्द मनुष्यों को हुआ करता है, उसके प्रकट करने के लिये इस अनुवाक के मुख्य विषय आनन्द-मीमांसा का प्रारम्भ करते हैं। यह विषय शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद में भी आया है। परन्तु तीनों स्थलों में जो विवरण दिया गया है, उनमें कुछ गौण-सा अन्तर है। इसलिये हम यहां पहले एक चित्र देते हैं जिससे तीनों स्थलों में दिया गया विवरण और उनमें जो थोड़ा-बहुत अन्तर है वह प्रकट हो जावे:—

आनन्द मीमांसा का सूचक चित्र

सं०	तैत्तिरीयोपनिषद्के अनुसार (अनुवाक ८ ब्रह्मानन्दवल्ली)	शतपथ ब्राह्मण के अनुसार (शतपथ १४।७।१।३१)	बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार (कण्व शाखा ४।३।३२)
१	मनुष्यों के १०० आनन्द= मनुष्य गन्धर्वों का १आनंद	मनुष्यों के १००आनन्द= पितरों (जितलोक) का एक आनन्द	मनुष्यों के १०० आनन्द=पितर(जित लोक)का १आनंद=
२	मनुष्य गन्धर्वों के १०० आनन्द=देव गन्धर्वों का एक आनन्द	—	—
३	देव गन्धर्वों के १०० आनन्द=पितरों (चिर-लोक) का एक आनन्द	—	—
४	पितरों के १०० आनन्द= आजानज देवों का एक आनन्द	पितरों (जितलोक) के १०० आनन्द=कर्म देवों का एक आनन्द	पितर (जितलोक) के १०० आनन्द= गंधर्व का१आनन्द
५	आजानज देवों के १०० आनन्द=कर्मदेवों का एक आनन्द	—	गंधर्वों के १०० आनंद=कर्मदेवों का एक आनंद
६	कर्मदेवों के १०० आनन्द=देवों का एक आनन्द	कर्मदेवों के १०० आनन्द =देवों का एक आनन्द	कर्मदेवों के १०० आनद=आजानज देवोंका एक आनंद
७	देवों के १०० आनन्द= इन्द्र का एक आनन्द	देवों के १०० आनन्द= गंधर्वों का एक आनन्द	—
८	इन्द्र के १०० आनन्द= बृहस्पति का एक आनन्द	—	—
९	बृहस्पति के १००आनन्द =प्रजापति का १आनन्द	गंधर्वों के १०० आनन्द= प्रजापति का एक आनंद	आजानज देवों के १०० आनद=प्रजा-पति का १ आनद
१०	प्रजापति के १००आनंद= ब्रह्म का एक आनन्द	प्रजापति के १००आनन्द= ब्रह्म का एक आनन्द	प्रजापति के १०० आनन्द=ब्रह्म का एक आनन्द

नोट—इस उपनिषद् के विवरण में आये हुए आनन्द भोक्ताओं को, ठीक-ठीक समझा जा सके, इसलिये उनका कुछ विवरण यहां दिया जाता है:—

(१) मनुष्य—जो व्यक्ति युवा, सच्चरित्र, देवज्ञ, दृढ़ांग, ऐश्वर्यवान् और बलवान् हो और जिसके अधीन, धन धान्य से पूर्ण पृथिवी भी हो, वह उपनिषद् के तात्पर्यार्थ, मनुष्य समझे और कहे जाने के योग्य हैं। ऐसे व्यक्ति को जो सुख प्राप्त होते हैं, उन सब सुखों की मात्रा का नाम "एक आनन्द" है।

(२) मनुष्य-गन्धर्व—यहाँ मनुष्य के साथ गन्धर्व विशेषण जोड़ने का मतलब यह है कि मनुष्यत्व के सं० १ में वर्णित आदर्श की पूर्ति के साथ, उसमें यह योग्यता और भी हो कि सोमगान के द्वारा, ईश्वरोपासना में मग्न रहता हो।

(३) देवगन्धर्व—मनुष्यों के तीन भेद होते हैं—(१) उत्कृष्ट वे होते हैं जिन्होंने क्रियात्मक जीवन द्वारा दिव्य गुणों को प्राप्त किया है। ऐसे ही मनुष्य "देव" कहाते हैं। (२) मध्यम श्रेणी के व्यक्ति साधारणतया मनुष्य कहलाते हैं। (३) निकृष्ट मनुष्य वे होते हैं जिन्हें, वेद में दस्यु कहा गया है। इन्हीं को असुर, पिशाच आदि भी कहते हैं। इस प्रकार देव गन्धर्व उत्कृष्ट मनुष्य गन्धर्वों को कहते हैं।

(४) चिरलोक पितर—पितर रक्षकको कहते हैं। जो लोग वेद विद्या, अपने परिवार, जाति और देश की रक्षा में सदैव तत्पर रहते थे, उनका नाम वैदिक काल में पितर होता था—

माता-पिता के सिवा,अन्यों के लिये पदवीके तौर पर इस्तैमाल होता था। चिरलोक का विशेषण, चिरकाल तक पितृत्व की प्राप्ति समझे जाने के लिये, लगाया गया है।(❀)

(५) आजानजदेव—आजान नाम देव लोक अर्थात् ऐसे स्थान का है जहां उत्कृष्ट मनुष्य रहते हों। ऐसे स्थान पर उत्पन्न व्यक्ति "आजानज" कहलाते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों, श्रेष्ठ परिवारों में उत्पन्न होना भी श्रेष्ठ कर्मों का ही फल हुआ करता है। ऐसे व्यक्ति प्रायः जन्म ही से दिव्य गुण रक्खा करते हैं। उनके दिव्यगुणी होने का कारण, माता-पिता के सिवा, उनके साथ आये हुए संस्कार आदि मुख्यतया हुआ करते हैं।

(६) कर्मदेव—श्रेष्ठ कर्मों से देवत्व प्राप्त करने वाले, कर्मदेव कहे जाते हैं।

(७) देव—दिव्य गुण युक्त पुरुष।

(८) इन्द्र—देवों का अगुआ या नेता।

(९) वृहस्पति—देवों का उपदेष्टा या शिक्षक।

(१०) प्रजापति—देवों का सम्राट् (चक्रवर्ती राजा)।

उपर्युक्त विवरण,केवल ब्रह्म की प्राप्ति से जो आनन्द हुआ करता है, उसकी महत्ता प्रदर्शन करने के लिये है। अर्थात् मुक्त जीव जो आनन्द प्राप्त किया करता है उस आनन्द से, संसार के किसी भी सुख की, उपमा नहीं दी जा सकती। यह आनन्द

❀ महाभारत काल तथा उसके इधर-उधर, शहर का कोतवाल भी पितर कहलाता था।

ईश्वर के एकत्व के अनुभव कर लेने से प्राप्त हुआ करता है। उसके एकत्व के अनुभव में, उसके अभिन्नत्व, विभुत्व, सर्व-व्यापकत्व और स्नेहमयत्व आदि का अनुभव शामिल है। उपासक ज्यों ही इस अनुभव प्राप्ति के पथ का पथिक बनता है और चलना प्रारम्भ कर देता है तभी से उसके भीतर से अहंकार (ममता) की भावना,कम होना शुरू हो जाती है। और ज्यों-ज्यों यह कम होती जाती है उपासक आगे बढ़ता जाता है। पहले वह अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) की ममता श्रवण और दर्शन (इन्द्रियों के कार्यों को), नियन्त्रित करने से छोड़ता है। फिर "मनन" अर्थात् मन बुद्धि आदि अन्त:करणों के कार्यों को नियन्त्रित करने से प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों अर्थात् सूक्ष्म शरीर की ममता छोड़कर आनन्दमय कोश अर्थात् कारण शरीर की सीमा में दाखिल हो जाता है। यहां पहुंच कर, वह "वसुधैव कुटुम्बकम्" का स्वाद चखने लगता है। यहां न अपने पराये का भेद होता है, न किसी वस्तु की इच्छा बाकी रहती है। अपने प्रियतम के प्रेम में लीन हो जाता है। यहां उसे जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी उपमा यदि कोई दी जा सकती है तो केवल उस सुख से, जो सुषुप्तावस्था में, मनुष्यों को प्राप्त हुआ करता है। अन्तर केवल इतना होता है कि सुषुप्ति का सुख तो तमोगुण की बहुतायत से मनुष्य को प्राप्त हुआ करता है परन्तु कारण शरीर (आनन्दमय कोश) की दुनिया में वह तीनों

प्राकृतिक गुणों से ऊंचा होकर, गीता के शब्दों में 'निस्त्रैगुण्य' होता जाता है। यहां उपासक मुक्त जीव कहलाता है। अब इस अन्तिम (आनन्दमय) कोश से आगे चलकर वह आवागमन के चक्र से छूट कर मुक्त हो जाता है। यही मनुष्य का अन्तिम ध्येय और यही जीवात्मा की अन्तिम गति है।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एत ७ ह वाव न तपति। किमह७ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेत आत्मान७ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एत आत्मान७ स्पृणुत। य एवं वेद। इत्युपनिषद् ॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(मनसा, सह, वाचः) मन के साथ वाणी (ब्रह्मणः, आनन्दम्, अप्राप्य) ब्रह्म के आनन्द को न पाकर (यतः, निवर्तन्ते) जहां से लौट आती हैं (उसको पाकर) (विद्वान्, कुतश्च, न, बिभेति, इति) ज्ञानी पुरुष किसी से नहीं डरता। (एतम्, वाव, न, तपति) इसको निश्चय कोई (संकल्प) ... देता। (किम्, अहम्, साधु, न, अकरव... ..., ह, (काम) नहीं किया ? (किम्, ..., दुःख नहीं ... न) क्या मैंने अच्छा ... अहम्, पापम्, अकरवम् इति)

क्या मैंने पाप किया है? (सः, यः, एवम्, विद्वान्, एते, आत्मानम्, स्पृणुते) सो जो विद्वान्, इस प्रकार इस (पुण्य करने और पाप न करने के विचार) से अपने को बलवान् बनाता है (उभे, हि, एव, एषः, एते, आत्मानम्, स्पृणुते) निश्चय ये दोनों (विचार) ही उसकी आत्मा को बलवान् बनाते हैं। (यः, एवम् वेद) जो इस प्रकार (ब्रह्म को) जानता है (इति, उपनिषद्) यही उपनिषद् है।

व्याख्या—पिछले अनुवाक में वर्णित शिक्षा के समर्थन में इस अनुवाक के प्रारम्भ में एक श्लोक दिया गया है जिसका मतलब केवल इतना है कि मन और इन्द्रियों का विषय ब्रह्म नहीं है और न वे उस तक पहुंच सकती हैं। इसलिए उसे, उन्हीं साधनों से प्राप्त करना चाहिए जिनका इसमें पहले उल्लेख हो चुका है। उसे प्राप्त करके ज्ञानी उपासक किसी से और कहीं भी नहीं डरता।

(२) जब मनुष्य पाप न करके पुण्य ही करता है, तो इनसे जो अच्छे संकल्प उसके मन में उठा करते हैं, वे निश्चित रीति से उसके आत्मा को बलवान् बनाया करते हैं।

(३) ब्रह्म को उपर्युक्त भांति प्राप्त कर लेना यही इस उपनिषद् का सार है।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

ब्रह्मविद्, इदं, अयं, इदं, एकविंशतिः (१) अन्नात्, अन्नरसमयात्, प्राणः, व्यानः, अपानः, आकाशः, पृथिवी पुच्छं

षड्विंशति: (२) प्राणं, यजुः, ऋक्, साम, आदेशः, अथर्वाङ्गिरसः, पुच्छं, द्वाविंशति: (३) यतः, श्रद्धा, ऋतं, सत्यं, योगः, महः अष्टादश (४) विज्ञानं, प्रियं, मोदः, प्रमोदः, आनन्दः, ब्रह्म पुच्छं, द्वाविंशति: (५) असन्नेव, अष्टाविंशति: (६) असत् षोडश (७) भीषाऽस्मात्, मानुषः, मनुष्यगन्धर्वाणां, देवगन्धर्वाणां, पितृणां चिरलोकलोकानां, आजानजानां देवानां, कर्मदेवानां, इन्द्रस्य, बृहस्पतेः, ब्रह्मणः, सः, यश्च, संक्रामति, एकपंचाशत् (८) यतः कुतश्चन एकादश (९) ब्रह्मवित्, य एवं वेद, इत्युपनिषत् ।

नोट—यह इस ब्रह्मानन्दवल्ली के अनुवाक और उनमें आये वाक्यों की गणना है। इसमें अनुवाक के प्रारम्भ के शब्द और उसमें प्रयुक्त मुख्य शब्दों का उल्लेख करते हुये अन्त में अनुवाकान्तर्गत समस्त वाक्यों की योगसंख्या दी हुई है। जैसे पहला अनुवाक "ब्रह्मविद्" शब्द से प्रारम्भ होता है और उसके मुख्य शब्द इदं, अयं, इदं हैं और उनमें २१ वाक्य हैं। पहले अनुवाक की एक संख्या का पहले उपर्युक्त सूची में इन्हीं बातों का उल्लेख है। ऐसा ही अन्यों को जान लेना चाहिये।

वल्ली के अन्त में वही इस वल्ली के प्रारम्भ का मंगलाचरण फिर दे दिया गया है:—

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषामहै ॥

॥ इति ब्रह्मानन्द वल्ली ॥

अथ भृगु वल्ली

अथ प्रथमोऽनुवाकः

भृगुर्वै वारुणिः । वरुण पितरमुपससार । अधीहि भगवो ! ब्रह्मे ति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । त ७ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मे ति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(भृगुः, वै, वारुणिः) वरुण का पुत्र भृगु (वरुणम्, पितरम्, उपसंसार) अपने पिता वरुण के पास गया [और कहा] (भगवः, ब्रह्म, इति अधीहि) हे भगवन् ! ब्रह्म [क्या है] यह बतलावें । (तस्मै, एतत्, अन्नम्, चक्षुः, श्रोत्रम्, मनः, वाचम्, प्रोवाच) [वरुण ने] उसके लिये ऐसा कहा कि अन्न, प्राण, आंख, कान और वाणी । (तम्, ह, उवाच) उस [भृगु] को फिर कहा कि (यतः, वै, इमानि, भूतानि, जायन्ते) निश्चय जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, (येन, जातानि, जीवन्ति)

उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं। (यत्, प्रयन्ति, अभि संविशन्ति) [और अन्त में] जिसमें जाकर लीन हो जाते हैं। (तत्, विजिज्ञासस्व) उसको जानो (तत्, ब्रह्म इति) वह ब्रह्म है। (सः, तपः, अतप्यत) उस [भृगु] ने तप तपा (सः, तपः, तप्त्वा) उसने तप तप कर।

व्याख्या—दूसरी वल्ली में ब्रह्म की प्राप्ति की जो शिक्षा दी है,उसी प्रकरण को जारी रखते हुये, इस वल्ली में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा,एक आख्यायिका के रूपमें दो गई है। भृगु के पूछने पर उसके पिता वरुण ने अन्न, प्राण,नेत्र, श्रोत्र,वाणी और मन का ज्ञान देते हुए कहा कि जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं और जीते हैं और अन्त में जिसमें लोन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है,उस की खोज कर। वरुण ने क्यों अन्न आदि नाम लिया, इसका कारण यद्यपि उसने कुछ नहीं बतलाया था परन्तु भृगु ने उसका आशय समझकर तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए, उस (क्रिया) के जानने के लिये पुरुषार्थ किया। (२) पिछली वल्ली में पंचकोशों के द्वारा, ब्रह्म के प्राप्त करने की बात कही गई है। वरुण ने अन्नादि का नाम लेकर उन्हीं का संकेत किया है। अन्न से वरुण का अभिप्राय अन्नमय कोश से था, प्राण से प्राणमयकोश का और चक्षु, श्रोत्र,वाणी और मन से अभिप्राय मनोमय कोश से था। चक्षु आदि के गोलक अवश्य अन्नमय कोश से सम्बन्धित हैं परन्तु असली इन्द्रियां, सूक्ष्म शरीर का अंग होने और सूक्ष्मभूतों का भाग होने के कारण,मनोमय कोश

से ही सम्बन्धित है वरुण का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि भृगु इन कोशों के द्वारा ब्रह्म की ओर चले। भृगु ने किया भी ऐसा ही, जब तक वह आनन्दमय कोश तक नहीं पहुँच गया उसने अपने पिता वरुण का पीछा नहीं छोड़ा।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

—:※:—

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तᳯं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥

अर्थ—(अन्नं, ब्रह्म, इति व्यजानात्) अन्न ब्रह्म है यह जाना। (अन्नाद, हि, एव, खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते) निश्चय अन्न ही से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। (अन्नेन, जातानि जीवन्ति) अन्न से उत्पन्न हुए [प्राणी] जीते हैं। (अन्नम्, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति) अन्न में मरकर लीन होते हैं। (तत्, विज्ञाय) यह जानकर (पुनः, एव, वरुणम्, पितरम्, उपससार) फिर पिता वरुण के पास गया। (भगवः, ब्रह्म, इति, अधीहि)

भगवन् ब्रह्म क्या है ? बतलावें। (तम्, ह, उवाच) उस [भृगु] को [वरुण ने] कहा (तपसा, ब्रह्म, विजिज्ञासस्व) तप से ब्रह्म के जानने की इच्छा कर (तपः, ब्रह्म, इति) तप ही ब्रह्म है। (सः, तपः, अतप्यत) उसने तप तपा (सः, तपः, तप्त्वा) उसने तप तप कर।

व्याख्या—अन्न अथवा अन्नमय कोश के ब्रह्म जानने का मतलब यह प्रतीत होता है कि इसे ब्रह्म-प्राप्ति का साधन समझ कर ब्रह्म की ओर चलना चाहिये। असंदिग्ध साधन, साध्य-स्थानी जाना और माना जाता है। घृत,आयुवृद्धि का असंदिग्ध कारण है इसलिये "आयुर्वै घृतम्" इस प्रसिद्ध वाक्य में आयु को घृत हां कहा गया है। इसी प्रकार पञ्चकोश, ब्रह्म प्राप्ति के असंदिग्ध साधन हैं इसलिये यहां अन्नादि [अन्नमयकोशादि] को ब्रह्म कहा गया है। शंकराचार्य जी ने भी अन्नादि को ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार माना है। आनन्द गिरि ने अन्न से ईश्वर के विराट् रूप का अभिप्राय समझा है। अन्न से, प्राणियों के शरीरों का उत्पन्न होना, स्थिर रहना और अन्त में उसी में मिल जाना, स्पष्ट ही है। शरीर ब्रह्म का मन्दिर होने से, उस (ब्रह्म) तक पहुंचने का पहला कारण है। इसी दृष्टि से अन्न तथा तप आदि को ब्रह्म कहा गया है।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि

भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो। ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः॥

अर्थ—(प्राणः, ब्रह्म, इति, व्यजानात्) प्राण ब्रह्म है, यह जाना। (प्राणात्, हि, एव, खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते) निश्चय प्राण ही से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। (प्राणेन, जातानि जीवन्ति) प्राण से उत्पन्न [प्राणी] जीते हैं। (प्राणम्, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति) प्राण ही में मरकर लीन होते हैं। (तत्, विज्ञाय) यह जानकर (पुनः, एव, पितरम्, वरुणम्, उपससार) फिर [भृगु] अपने पिता वरुण के पास गया। (भगवः, ब्रह्म, इति, अधीहि) भगवन्! ब्रह्म क्या है? उपदेश करें। (तम्, ह, उवाच) उसको कहा (तपसा, ब्रह्म, विजिज्ञासस्व) तप से, ब्रह्म को जानो। (तपः, ब्रह्म, इति) तप ब्रह्म है। (सः, तपः, अतप्यत) उसने तप तपा। (सः तपः, तप्त्वा) उसने तप तप कर।

व्याख्या—अन्नमय कोश से आगे चलकर, प्राणमय कोश में पहुंचना और उसका मर्म समझना है। इसीलिये इस अनुवाक में प्राण का महत्त्व प्रदर्शित करते हुये, उसे प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बतलाया गया है। प्राण की श्रेष्ठता

तो इसी से प्रकट है कि प्रत्येक जानदार, प्राणी कहलाता है। प्राण नाम ब्रह्म का भी है परन्तु यहां प्राण ब्रह्म-प्राप्ति का असंदिग्ध कारण ही है और इसी दृष्टि से उसे ब्रह्म कहा गया है।

अन्नमय कोश से प्राणमय कोश की श्रेष्ठता और आगे की सीढ़ी होने से मुख्यता प्रकट होती है, परन्तु प्राण अपने लिये कुछ ग्रहण नहीं करता। उसका कार्य पूर्णतया निष्काम हुआ करता है। यही शिक्षा इस कोश से लेनी चाहिये। तपस्वी जीवन ही अन्नमय कोश में सफलता प्राप्त करने का साधन था और ऐसा ही जीवन इस कोश में भी सफलता प्राप्त करने का साधन है। इसलिये वरुण ने भृगु को तप के द्वारा ब्रह्म की ओर चलने का आदेश किया।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति—तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(मनः, ब्रह्म, इति, व्यजानात्) मन ही ब्रह्म है। यह जाना। (मनसः, हि, एव, खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते) मन ही से, निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। (मनसा, जातानि, जीवन्ति) मन से उत्पन्न प्राणी जीते हैं। मनः, प्रयन्ति, अभि-संविशन्ति इति) और मन ही में मर कर लीन हो जाते हैं। (तत्, विज्ञाय) यह जानकर (पुनः, एव, वरुणम्, पितरम्, उपससार)[भृगु]फिर अपने पिता वरुण के पास गया। (भगवः, ब्रह्म, इति, अधीहि) भगवन्! ब्रह्म क्या है? बतलावें। (तम्, ह, उवाच) उसको [वरुण ने] कहा (तपसा, ब्रह्म,विजिज्ञासस्व) तप से ब्रह्म को जानो। (तपः, ब्रह्म, इति) तप ही ब्रह्म, है। (सः, तपः, अतप्यत) उसने तप तपा। (सः, तपः, तप्त्वा) उसने तप करके।

व्याख्या—अब प्राणमय कोश से आगे बढ़कर,मनोमयकोश में पहुंचना और उसका महत्त्व समझना है। जहां प्राण की विशेषता निष्कामता थी, वहां मन की दो विशेषताएं हैं:—

(१) समस्त इन्द्रियां उसके आधीन हैं और वह जिस तरह से चाहता है, उन्हें नचाता है।

(२) जो संकल्प, अपने अनुरूप ही मनुष्य को बना दिया करते हैं, वे इसी मन में उठा करते हैं।

मनोमय कोश द्वारा,जब मनुष्य इन्द्रियों को नियंत्रित रखने की योग्यता प्राप्त कर लिया करता है और मन को शिव संकल्प वाला बना दिया करता है, तब मनोमय कोश, ब्रह्म-प्राप्ति का

असंदिग्ध कारण बन जाया करता है। इसी दृष्टि से उसे ब्रह्म तथा सब प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया है। मनोमय कोश की इस सफलता का कारण भी तप ही है। इसी लिये वरुण ने यहां भी उसे फिर तप करने ही का आदेश दिया।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाक: ॥

अथ पंचमोऽनुवाक:

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥

इति पञ्चमोऽनुवाक: ॥

अर्थ—(विज्ञानम्, ब्रह्म, इति, व्यजानात्) विज्ञान ही ब्रह्म है यह जाना (विज्ञानात्, हि एव, खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते) विज्ञान ही से, निश्चय, ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। (विज्ञानेन, जातानि, जीवन्ति) विज्ञान ही से उत्पन्न प्राणी जीते हैं (विज्ञानम्, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति) विज्ञान ही में मर कर लीन होते हैं।

(तत्, विज्ञाय) यह जान कर भृगु (पुनः, एव, वरुणम्. पितरम्, उपससार) फिर भी अपने पिता वरुण के पास गया। (भगवः! ब्रह्म, इति, अधीहि) है भगवन्! ब्रह्म क्या है, यह मुझे बतलावें? (तम्, ह, उवाच) उसको [वरुण ने] कहा। (तपसा, ब्रह्म, विजिज्ञासस्व) तप से ब्रह्म को जानो। (तपः, ब्रह्म, इति) तप ही महान् है। (सः, तपः, अतप्यत) उसने तप तपा। (सः, तपः, तप्त्वा) उसने तप करके।

व्याख्या—अब मनोमय कोश से आगे चलकर, विज्ञानमय कोश की सीमा में पहुंच कर, उससे लाभ उठाना है। मनोमय कोश में रहने तक मनुष्य के भीतर ममता [मेरे-तेरे पन] का भाव रहा करता है। परन्तु विज्ञानमय कोश की विशेषता यह है कि इस कोश में पहुंचकर,उपासक,समष्टि बुद्धितत्त्व(महत्तत्व) का आश्रय लिया करता है जहां अहंकार की पहुंच नहीं है और यही निरहंकारता मनुष्य को, इस योग्य बना देती है कि वह आनन्दमय कोश [कारण शरीर] में प्रवेश कर सके। साधन इसका भी वही तप है। इसलिये वरुण ने भृगु को, इस मंजिल पर पहुंचने के लिये भी, उसी तप करने ही का आदेश दिया है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्वि-

मानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेन। महान् कीर्त्या।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(आनन्दः, ब्रह्म, इति, व्यजानात्) आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाना। (आनन्दात्, हि,एव, खलु, इमानि,भूतानि, जायन्ते) निश्चय आनन्द ही से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। (आनन्देन, जातानि, जीवन्ति) आनन्द ही से उत्पन्न प्राणी जीवित रहते हैं। (आनन्दम्, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति) आनन्द ही में मरकर समा जाते हैं। (सा, एषा, भार्गवी, वारुणी, विद्या) यह भृगु और वरुण की विद्या है. और (परमे, व्योमन्, प्रतिष्ठिता) श्रेष्ठ हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है। (यः, एवम्.वेद, प्रतितिष्ठति) जो इस प्रकार [इस विद्या को] जानता है प्रतिष्ठित होता है। (अन्नवान्, अन्नादः भवति) अन्नवान् और उस अन्न का भोग करने वाला होता है। (प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान्, कीर्त्या, महान्, भवति) सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज और उत्कृष्ट कीर्ति से महान् होता है।

व्याख्या—विज्ञानमय कोश से आगे बढ़कर, अब उपासक आनन्दमय कोश में, प्रवेश करता है और आनन्दमय कोश को उत्पत्ति स्थिति का कारण समझता हुआ मर कर आनन्द ही में

प्रविष्ट हो जाता अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहां पहुंच कर भृगु सन्तुष्ट हो जाता है और अब अपने पिता से और कुछ पूछने की जरूरत नहीं समझता। वरुण से इस विद्या को, भृगु ने प्राप्त किया था इसलिये, उचित रूप से, इस विद्या हृदयाकाश "भार्गवी वारुणी विद्या" लिया जाता है। यह विद्या हृदयाकाश में रहने वाले आत्मा में प्रतिष्ठित है। इसीलिये आत्म-विद्या भी कहते हैं इस विद्या से सम्बन्धित प्रकरण को समाप्त करते हुये उपनिषद्कार ने, फलश्रुति अंकित की है। अर्थात् जो मनुष्य इस विद्या को प्राप्त करके उसके अनुकूल आचरण करता है वह सन्तान, पशुवाला और ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर, महान् यशस्वी होते हुए, लोक और परलोक दोनों में महान् होता है।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात्। तत् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितं शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अर्थ—(अन्नम्, न, निन्द्यात्) अन्न की निन्दा न करे (तत्, व्रतम्) यह व्रत है। (प्राणः, वं, अन्नम्) प्राण ही अन्न है।

(शरीरम्, अन्नादम्) शरीर अन्न का खाने वाला है। (प्राणे, शरीरम्, प्रतिष्ठितम्) प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है। (शरीरे, प्राणः, प्रतिष्ठितः) शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। (तत्, एतत्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्) सो इस प्रकार अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। (सः, यः, एतत्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितं, वेद) वह जो इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है। (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है। (अन्नवान्, अन्नादः, भवति) अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। (प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान्, कीर्त्या, महान् भवति) सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज और महान् कीर्ति से महान् होता है।

व्याख्या—पंचकोशों का सारा प्रकरण, अनन्नमय कोश से प्रारम्भ होता है, इसलिये, उस प्रकरण को समाप्त करते हुए, अन्न के सम्बन्ध में, कुछ-एक आवश्यक बातें, उपनिषद्कार ने यहां कही हैं:—

पहली बात-यह है कि अन्न अर्थात् किसी भी भोज्य पदार्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये। वह बात व्रत [दृढ़ प्रतिज्ञा] के तौर पर याद रखनी चाहिए। किसी भी भोज्य पदार्थ को, उसे बुरा समझते वा कहते हुए, जो व्यक्ति उसे खाता है तब वह पदार्थ पचता नहीं अपितु रोगों का कारण हो जाया करता है। इसी प्रकरण में प्राण को अन्न और शरीर को अन्नाद कहा गया है यह बड़े महत्त्व की बात है। साधारणतया प्राण को अन्नाद

कहा जाता है। फिर यहां उसे अन्न क्यों कहा गया ? अन्न के अर्थ जहां भोज्य पदार्थ के हैं वहां सूर्य और प्राण आदि के भी हैं। तात्पर्य यह है कि अन्न भोज्य और भोक्ता दोनों को कहते हैं। प्राण इस स्थूल अन्न का अवश्य भोक्ता होता है परन्तु इस अन्न को भोग लेने से जब यह शक्ति के रूप में हो जाता है तो तीनों प्रकार के शरीर उस शक्ति को ग्रहण करके अपने को बलिष्ठ बनाते हैं। यहां इस प्रकार प्राण अन्न (भोग्य) के रूप में हो गया और शरीर भोक्ता के रूप में। भाव इसका यह है कि अन्न की निन्दा न करते हुए उससे प्राण और शरीर दोनों को बलवान् बनाना चाहिए। तभी प्राण और शरीर दोनों एक-दूसरे के आधाराधेय होकर मनुष्य को सुखी और बलवान् बना सकते हैं।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(अन्नम्, न, परिचक्षीत) अन्न को [अनादर की दृष्टि से] न त्यागे । (तत्, व्रतम्) यह व्रत [मर्यादा] है। [आपः, वै, अन्नम्) निश्चय जल अन्न है (ज्योतिः, अन्नादम्) अग्नि [अथवा सूर्य] अन्न का भोक्ता है । (अप्सु, ज्योतिः, प्रतिष्टितम्) जल में ज्योति प्रतिष्ठित है। (ज्योतिषि, आपः, प्रतिष्ठिताः) ज्योति में जल प्रतिष्ठित है। (तत्, एतत्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्) वह यह अन्न-अन्न में प्रतिष्ठित है। सः, यः, एतत्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्, वेद, प्रतितिष्ठति) सो जो कोई इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित होने को जानता है, प्रतिष्ठित होता है। (अन्नवान्, अन्नादः, भवति) अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। (प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान्, कीर्त्या, महान्, भवति) प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, उत्कृष्ट कीर्ति से महान् होता है।

व्याख्या—अन्न के सम्बन्ध में पहली बात कही जा चुकी है, दूसरी अब कही जाती है।

दूसरी बात—यह है कि अन्न का निरादर नहीं करना चाहिये और न निरादर की भावना से उसका त्याग करना चाहिये। इसे समझ लेना चाहिये कि यह नियम और मर्यादा है। इस प्रकरण में जल को अन्न और अग्नि अथवा सूर्य को अन्नाद कहा गया है। जल का पेय पदार्थ होने से, अन्न होना तो स्पष्ट ही है। इसके सिवा जल अन्न की उत्पत्ति का असंदिग्ध कारण भी है। अग्नि अथवा सूर्य जल को सुखाकर भाप

बना देने से उसका भोक्ता है। इसलिए जल और अग्नि का अन्न अन्नाद होना साफ जाहिर है। जल सूक्ष्म रूप, भाप आदि की सूरत में अग्नि में प्रतिष्ठित है और अग्नि अपने सूक्ष्म रूप विद्युत् आदि की सूरत में जल में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जल और अग्नि का एक-दूसरे का आधाराधेय होना भी स्पष्ट ही है। जब मनुष्य अन्न का अनादर न करते हुए उनके उत्पत्ति के साधक जल और अग्नि के मेल के महत्त्व को समझ कर उससे लाभ उठाता है तभी वह अन्नवान्, अन्नाद, तेजस्वी और यशस्वी होकर महान् पुरुषों की कोटि में आया करता है।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति। प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(अन्नं, बहु, कुर्वीत) अन्न को बहुत बढ़ावे [संगृहीत करे] (तत्, व्रतम्) यह नियम है। (पृथिवी, वै, अन्नम्)

निश्चय पृथिवी अन्न है। (आकाशः, अन्नादः) आकाश अन्न का भोक्ता है। (पृथिव्याम्, आकाशः प्रतिष्ठितः) पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है। (आकाशे, पृथिवी, प्रतिष्ठिता) आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। (तत्, एतत्, अन्नम्, अन्ने,प्रतिष्ठितम्) इस प्रकार यह अन्न, अन्न में प्रतिष्ठित है। (सः, यः, एतत्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्, वेद, प्रतितिष्ठति) सो जो कोई इस अन्न में अन्न के प्रतिष्ठित होने को जानता है, प्रतिष्ठित होता है। (अन्नवान्, अन्नादः, भवति) अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। (प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान्, कीर्त्या, महान्, भवति) सन्तान, पशु, तेजस्विता, और उत्तम यश से महान् होता है।

व्याख्या—अन्न के सम्बन्ध में तीसरी बात यही कही गई है:—

तीसरी बात—यह है कि अन्न का पुष्कल संचय करना चाहिये और इसकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। किस प्रकार यह सञ्चय हो सकता है ? इसके लिये निम्न बातें उसे जाननी चाहियें:—पृथिवी अन्न और आकाश अन्नाद है। जितने भी अन्न अर्थात् भोज्य पदार्थ होतेहैं उन सभी का रूप पार्थिव होता है और अधिकांश उनमें पृथिवी का अंश होता है,इसलिये पृथिवी का अन्न स्वयं होना स्पष्ट है। जितने भी अन्न हैं अथवा स्वयं पृथिवी अन्न रूप है, इन सबका आश्रयस्थान आकाश होता है

और आकाश ही में वे, खाये हुए पदार्थों के सदृश, संगृहीत होते हैं। इस दृष्टि से आकाश को अन्न का भोक्ता कहा जाता है। पृथिवी का आकाश में और आकाश का पृथिवी में होना प्रत्यक्ष है। इसलिये इनका परस्पर एक-दूसरे का आधाराधेय होना भी साफ जाहिर है। जब मनुष्य पृथिवी को अन्नोत्पत्ति का कारण समझ लेता है और आकाश [ईथर=Ether] की उपयोगिता भी समस्त पदार्थों का आधार होने आदि के द्वारा समझ लेता और इन दोनों से इसी रूप में काम लेने लगता है तभी वह अन्नवान् और अन्नाद होता है तभी सन्तति, पशु, तेजस्विता और कीर्ति प्राप्त कर महान् हो जाता है।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अथ दशमोऽनुवाकः

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते ॥१॥ य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः।

अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति ॥२॥ यश
इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द
इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्र तिष्ठेत्युपासीत । प्रति-
ष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन
इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । नम्य-
न्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मे त्युपासीत ॥३॥ ब्रह्मवान् भवति ।
तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः
सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे
यश्चासावादित्ये । स एकः ॥४॥ स य एवंवित् । अस्मा-
ल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राण-
मयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मान-
मुपसंक्रम्य । इमांल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् ।
एतत्साम गायन्नास्ते । हा३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥३॥
अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।
अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोक कृदहꣳ श्लोककृत । अहमस्मि
प्रथमजा ऋता ३ स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि ।
यो मा ददाति स इदेव मा३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा

३ द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां ३ सुवर्ण ज्योतिः । य एवं वेद । इत्युपनिषद् ॥६॥ (राध्यते विद्युति मानवान् भवत्येको हा ३ वु य एवं वेदैकं च) ॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(कञ्चन, वसतौ, न प्रत्याचक्षीत) किसी वसने की इच्छा से आये हुये [अतिथि] को न लौटाओ। (तत् व्रतम्) यह मर्यादा है। (तस्मात्, यया, कया, च, विधया, बहु, अन्नम्, प्राप्नुयात्) इसलिये जिस किसी विधि से [हो सके] बहुत अन्न संग्रह करे। (अस्मै, अन्नम्, अराधि, इति, आचक्षते) इस [अतिथि] के लिये अन्न पकाया गया है, ऐसा कहे। (एतत्, वै, मुखतः, अन्नम्, राद्धम्) निश्चय यह अन्न उत्तम रीति [श्रद्धा] से पकाया गया है। (मुखतः, अस्मै, अन्नम्, राध्यते) श्रद्धा से उसे [अतिथि को] अन्न [पकाया हुआ] देता है। (एतत्, वै, मध्यतः, अन्नम् राद्धम्) निश्चय यह अन्न मध्यम रीति से बनाया गया है। (मध्यतः, अस्मै, अन्नम्, राध्यते) मध्य श्रद्धा से उस [अतिथि] को अन्न देता है। (एतत्, वै, अन्ततः, अन्नम्, राद्धम्) निकृष्ट रीति से यह अन्न पकाया गया है। (अन्ततः, अस्मै, अन्नम् राध्यते) निकृष्ट श्रद्धा से उसे [अतिथि को] अन्न देता है ॥१॥ (यः एवम्, वेद) जो ऐसा जानता है। (क्षेमः, इति, वाचि) उसकी वाणी में क्षेम, योग-क्षेमः, इति, प्राणापानयोः) प्राण और अपान में योग क्षेम (कर्म,

इति, हस्तयोः) हाथों में कर्म, (गतिः, इति, पादयोः) पैरों में गति (विमुक्तिः, इति, पायौ) मलेन्द्रिय से मल विसर्जन [होता है] (इति, मानुषीः, समाज्ञाः) मनुष्य वाणी से पालन करने योग्य नियम हैं। (अथ, दैवीः) अब दैवी (आज्ञाओं=नियमों) को कहते हैं। (तृप्तिः, इति, वृष्टौ) वर्षा में तृप्ति, (बलम्,इति, विद्युति) बिजली में बल है ॥२॥

(यशः इति, पशुषु) पशुओं में यश (ज्योतिः, इति, नक्षत्रेषु) नक्षत्रों (तारागण) में प्रकाश, (प्रजातिः, अमृतम्, आनन्दः, इति, उपस्थे) सन्तानोत्पत्ति, अमृतत्व और आनन्द जननेन्द्रिय में, (सर्वम्, इति,आकाशे)सब कुछ आकाश में है, (तत्,प्रतिष्ठा, इति, उपासीत, प्रतिष्ठावान्, भवति) उसको आधार मानकर उपासना करे तो प्रतिष्ठावान् होता है। (तत्, महः, इति,उपा- सीत) उसको महान् जानकर उपासना करे तो (महान् भवति) महान् होता है। (तत्, मनः, इति, उपासीत, मानवान्, भवति) उसको मन=मनीषी=मननशील मानकर उपासना करे तो मानवान् [मनस्वी] होता है ॥३॥

(तत्, नमः, इति, उपासीत, नम्यन्ते, अस्मै, कामाः) उसे निरहंकार पूज्य मानकर उपासना करे तो उसकी समस्त काम- नायें उसके लिए झुकती हैं [पूरी हो जाती हैं]। (तत्, ब्रह्म,इति, उपासीत, ब्रह्मवान्, भवति) उसको बड़ा जानकर उपासना करे तो ब्रह्मवान्[आस्तिक या बड़ा]होता है। (तत् ब्रह्मणः,परिमरः, इति उपासीत उस ब्रह्म को सबका नियन्त्रण करने वाला जान

कर उपासना करे तो(परि,एनम्,म्रियन्ते,द्विषन्तः,सपत्नाः,परि, ये, अप्रियाः,भ्रातृव्याः)उससे द्वेष करने वाला शत्रु और वे शत्रु भी जो उसे अप्रिय हैं सब ओर नष्ट हो जाते [अर्थात् शत्रुता का भाव छोड़ देते] हैं। (सः, यः, च अयम्, पुरुषे, यः, च, असौ आदित्ये) वह जो इस पुरुष [मनुष्य शरीर] में है और जो उस सूर्य में है। (सः, एकः) वह एक ही है ॥४॥

(सः, यः एवम् वित्) वह जो ऐसा जानता है (अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य)इस लोक से मरकर एतम्, अन्नमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य) इस अन्नमय आत्मा [कोश] से आगे बढ़कर (एतम्, प्राणमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य इस प्राणमय कोश से आगे बढ़कर (एतम्, मनोमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य) इस मनोमय कोश से आगे बढ़कर (एतम्,विज्ञानमयम्,आत्मानम्,उपसंक्रम्य) इस विज्ञानमय कोश से आगे बढ़कर (एतम्, आनन्दमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य) इस आनन्दमय कोश से आगे बढ़कर (इमान् लोकान्,कामान्,नीकामरूपी,अनुसंचरन्)इन सब कामना के योग्य लोकों को, निष्काम होकर विचरता हुआ(एतत्,साम, गायन्, आस्ते)यह सामगान करता हुआ रहता है।(हावु, हावु, हावु) हावु के अर्थ हैं अहो, [तेरी रचना], अहो [तेरी महिमा] अहो [तेरी अलौकिकता] [अहम्, अन्नम्, अहम्, अन्नम्, अहम् अन्नम्) मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं ॥५॥ (अहम्, अन्नादः, अहम्, अन्नादः, अहम्, अन्नादः) मैं अन्न का भोक्ता हूं, मैं अन्न का भक्षक हूं,मैं अन्न का खादक हूं। (अहम्,श्लोक-कृत्, अहम्, श्लोककृत्, अहम्, श्लोककृत्) मैं कीर्ति का बढ़ाने वाला हूं, मैं कीर्ति का बढ़ाने वाला हूं, मैं कीर्ति का बढ़ाने वाला हूं। (अहम्, ऋतस्य, प्रथमजाः, अस्मि) मैं ऋत [तीनों

काल में एक जैसे रहने वाले ईश्वरीय नियम की श्रेष्ठ सृष्टि हूं, (पूर्वम् देवेभ्य:, अमृतस्य, नाभि:) देवों से पहले मैं अमृत की नाभि अर्थात् इन्द्रियों के छूटने से पहले मैं मोक्ष स्थित [जीवन्मुक्त] हूं। य:, मा, ददाति, स:, इत्, एव, मा, अवा:) जो मुझे [उपर्युक्त मोक्षानन्द] देता है वही मेरी रक्षा करता है (अहम्, अन्नम्, अन्नम्, अदन्तम् आ, अद्मि) मैं प्रत्येक प्रकार के [खाद्य तथा रस रूप] अन्न के (अदन्तम्) खाने वाले [वनस्पति और औषधि आदि] को खा लेता हूं। अहम्, विश्वम्, भुवनम्, अभ्यभवाम्) मैं समस्त विश्व को दबाता [मर्यादा में रखता] हूं (सुव:, न, ज्योति:) जैसे सूर्य [तारा आदि नक्षत्रों की) ज्योति को। (य: एवम्, वेद)जो इस प्रकार जानता है (इति, उपनिषद्) यह उपनिषद् है ।।६।।

नोट—इस अनुवाक के पांच खण्डों के अन्तिम पद राध्यते, विद्युति मानवान्, भवति, एक:, और हावु हैं। छठे के अन्त में "य एवं वेद" वाक्य के बाद एक वाक्य और है।

।। इति दशमोऽनुवाक: ।।

व्याख्या—अन्न के सम्बन्ध में चौथी बात यहां कही गई है।

चौथी बात—अतिथि को अन्न देना है। आतिथ्य की महिमा प्रकट करते हुए, इस प्रकरण में शिक्षा यह दी गई है कि किसी भी आये हुए अतिथि को, गृहस्थ का धर्म है कि न लौटावे और उसके लिये, धर्मानुसार प्रत्येक सम्भव रीति से अन्न का संग्रह करे और उचित रीति और समुचित श्रद्धा के साथ अतिथि को भोजन करावे। ऐसा करने से, उपनिषत्कार का कथन है कि गृहस्थ को योगक्षेम प्राप्त होता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग और प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं। तात्पर्य इस

का यह है कि अतिथि के गृह में आने से अप्राप्त विद्या की प्राप्ति और उससे आत्मा और इन्द्रियों के बलवान् हो जाने से प्राप्त के रक्षा करने की योग्यता गृहस्थ के भीतर आ जाती है। उसके प्रत्येक इन्द्रिय नियमपूर्वक अपना-अपना काम करने लगते हैं जिससे उपासक सदैव नीरोग रहा करता है।

(२) ऐसा उपासक तीनों प्रकार के दुःखों से सुरक्षित रहता है। उसके लिये तृप्ति करने वाली वर्षा होती है। बिजली में बल,आकाशस्थ नक्षत्रों में प्रकाश रहता है। यश देने वाले पशु और सन्तानसहित प्रत्येक प्रकार का इन्द्रिय सुख भी प्राप्त रहता है।

(३) अनेक प्रकार के सुखों की गिनती कराते हुए, शिक्षा यह दी गई है कि ये सभी सुख एक जगह एकत्रित, आकाशवत् व्यापक ब्रह्म में रहते हैं। इसलिये जो मनुष्य उसी (व्यापक ब्रह्म) को अपना एकमात्र आधार मान लेता है तो वह लोक और परलोक दोनों में प्रतिष्ठित होता है।

(४) अब जप और उपासना की महिमा प्रकट करते हैं:—

(क) उसी ब्रह्म को 'महः'जानकर जप और उपासना करने से, उपासक महान् होता है।

(ख) मन (मनीषी) जानकर उपासना करने से उपासक में मननशीलता आती है।

(ग) नम गुण वाला मानकर उपासना करने से,उपासक में, नम्रता आती है।

(घ) ब्रह्म मानकर उपासना करने से उपासक उच्चकोटि का आस्तिक बना करता है।

(च) उसे 'परिमर' नियन्ता अथवा रुद्र मानकर उपासना करने से, उपासक शत्रु रहित हो जाता है।

ऐसे अनेक गुणों वाले, व्यापक ईश्वर से सूर्य, चन्द्र, मनुष्य और पशु सभी परिपूर्ण हैं। परन्तु सब जगह होता हुआ भी वह एक ही है। उसमें अनेकता का पूर्णतया अभाव है।

(५) ऐसा उपासक पञ्चकोशों से आगे बढ़कर जीवन्मुक्त होकर समस्त लोकों में निष्कामता के साथ भ्रमण करता हुआ, ईश्वर की महान् रचना को देख और मुग्ध होकर कह बैठता है:—

"अहो तेरी रचना", "अहो तेरी महिमा !"
"अहो तेरी अलौकिक दिव्य ज्योति !"

वह अपने को, "अत्ता चराचरग्रहणात्" की मर्यादा से. ईश्वर को अन्न और आनन्द भोक्ता होने से दिव्य आनन्द रूपी अन्न का अन्नाद [भोक्ता] जानता और मानता है और इसी में अपनी कीर्ति की वृद्धि समझता है और इसी में ईश्वर की श्रेष्ठ सृष्टि [मनुष्य] होने की सफलता मानता है। ईश्वर के आनन्ददाता और रक्षक होने का, उसके हृदय में अटल विश्वास होता है। जैसे तारों में सूर्य श्रेष्ठ होता है इसी प्रकार अन्य प्राणियों में ऐसा जीवन्मुक्त महान् होता है।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

भृगुवल्ली की सूची

पहला अनुवाक—भृगुस्तस्मै, यतो विशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तत्, इस अनुवाक के मुख्य शब्द हैं और इनमें १३ वाक्य हैं।

दूसरा अनुवाक—'अन्नम्' से प्रारम्भ होता है।

तीसरा अनुवाक—'प्राणम्' से प्रारम्भ होता है।

चौथा अनुवाक—मनो—से शुरु होता है।

पांचवां अनुवाक—विज्ञानमिति विज्ञाय तं तपसा—इस अनुवाक के मुख्य शब्द हैं और इसमें १२ वाक्य हैं।

छठा अनुवाक—"आनन्द" इति के अनुवाक से शुरू होता है "सैषा" बीच का शब्द है और इसमें १२ वाक्य हैं।

सातवां अनुवाक—"अन्नं न निन्द्यात्" से शुरु होता है। "प्राणः शरीरम्" इसके बीच के शब्द हैं और इसमें १० वाक्य हैं।

आठवां अनुवाक—"अन्नम् न परिचक्षीत" से प्रारम्भ होता है। "आपो ज्योतिः" इसके मुख्य शब्द हैं।

नवां अनुवाक—"अन्नं बहु कुर्वीत" से प्रारम्भ होता है। "पृथिव्यामाकाशः" इसके मुख्य शब्द हैं और इसमें ११ वाक्य हैं।

दसवां अनुवाक—"न कञ्चन" से प्रारम्भ होता है। इसके ६ खण्ड हैं। और तीसरे खण्ड के "एकः" शब्द के बाद इस अनुवाक में २० वाक्य हैं।

॥ इति भृगुवल्ली समाप्ता ॥

॥ समाप्ता चेयं तैत्तिरीयोपनिषद् ॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

सार्वदेशिक प्रेस, नई दिल्ली-२